सचित्र विश्वकोश

5 कृषि * उद्योग * व्यापार

5

सचित्र विश्वकोश

ज्ञान-विज्ञान की प्रामाणिक, तथ्यपूर्ण और नवीनतम जानकारी तथा दो हज़ार से अधिक रंगीन और दुर्लभ चित्रों से भरपूर दस सजिल्द और अपने-आपमें सम्पूर्ण खण्डों का अपने ढंग का अनूठा विश्वकोश

विशेषज्ञों द्वारा रचित तथा विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित 'गोल्डन बुक इन्साइक्लोपीडिया' का हिन्दी संस्करण

कृषि * उद्योग * व्यापार

राजपाल एण्ड सन्ज़
कश्मीरी गेट, दिल्ली–6

भूमिका

विश्वकोश की उपयोगिता से सभी परिचित हैं। विश्वकोश के द्वारा आप किसी भी विषय के सम्बन्ध में प्रामाणिक और नवीनतम जानकारी आसानी से पा सकते हैं। आज के युग में विश्वकोश एक महत्त्वपूर्ण और बहुत उपयोगी संदर्भ पुस्तक (रेफरेन्स बुक) है जो विद्यार्थियों, विद्वानों और जनसाधारण सभी के लिए मूल्यवान है।

मुझे प्रसन्नता है कि 'गोल्डन बुक एनसाइक्लोपीडिया' पर आधारित यह 'सचित्र विश्वकोश' दस भागों में प्रकाशित हो रहा है। प्रत्येक खण्ड विषयानुसार है और अपने में पूर्ण है। 'गोल्डन बुक एनसाइक्लोपीडिया' अपनी प्रामाणिकता के लिए संसार-भर में प्रसिद्ध है और अनेक देशों में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी में इस उपयोगी विश्वकोश का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ है जिसके लिए प्रकाशक बधाई के पात्र हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर चार-रंगे अनेक चित्र हैं और सबसे अच्छी बात यह है कि मात्र अनुवाद न होकर इसमें आवश्यकतानुसार भारतीयकरण भी किया गया है। मेरी सम्मति में ऐसा करने से इसकी उपयोगिता हिन्दी के पाठकों के लिए और भी बढ़ गई है। यह महत्त्वपूर्ण प्रकाशन, एक तरह से, शिक्षा के क्षेत्र में दो मित्र देशों के सहयोग का प्रतीक है।

एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें भारत सरकार द्वारा निर्धारित टैक्नीकल शब्दावली का उपयोग किया गया है। मुझे आशा है, हिन्दी के विद्यार्थी और पाठक इससे पूरा लाभ उठाएंगे।

नई दिल्ली
अप्रैल, 1967

प्रेम किरपाल
शिक्षा-सचिव, भारत सरकार

प्रकाशकीय

'सचित्र विश्वकोश' की तैयारी में हमें अनेक भारतीय विद्वानों और वैज्ञानिकों का सहयोग मिला है। हम उन सबके प्रति आभार प्रकट करते हैं, विशेषत: श्री श्रीकान्त व्यास के प्रति, जिनकी देख-रेख में यह हिन्दी संस्करण संपादित हुआ है। आवरण-चित्र श्री आर० के० बोस ने बनाए हैं।

—प्रकाशक

मूल्य : सात रुपये

THE GOLDEN BOOK ENCYCLOPAEDIA
by Bertha Morris Parker
Published by arrangement with Golden Press, Inc. New York.

प्रथम संस्करण © 1967, राजपाल एण्ड सन्ज़
मेहता ऑफसेट वर्क्स दिल्ली में मुद्रित

सचित्र विश्वकोश

खण्ड 5

कृषि, शिल्प, उद्योग, व्यापार

अंगूर (GRAPES) : अंगूर के बाग सदियों से लगाए जाते रहे हैं। इन बागों का ज़िक्र बाइबिल में भी मिलता है। अंगूर का उपजाना शायद बहुत पहले ही आदमी ने सीख लिया था।

अंगूर दो हज़ार किस्म के होते हैं। ये सारी किस्में या तो यूरोप के पास के पूर्वी देशों से आईं या फिर उत्तरी अमरीका से। चित्र में कुछ किस्में दिखलाई गई हैं।

अंगूर की बेलें होती हैं। इन्हें झाड़ियों-जैसा काटा जा सकता है। लेकिन बहुत-से बागों में अंगूर की बेलों को तारों से बने बाड़े पर चढ़ा दिया जाता है। बाद में इन्हें कलम कर दिया जाता है। ऐसा करने से अंगूर की पैदावार अच्छी होती है।

कुछ प्रकार के अंगूर किशमिश बनाने के लिए पैदा किए जाते हैं। कुछ किस्म के अंगूर खाने के लिए उतारे जाते हैं। कुछ का मुरब्बा या जेली बनाई जाती है। कई तरह के अंगूर शराब बनाने के लिए उगाए जाते हैं।
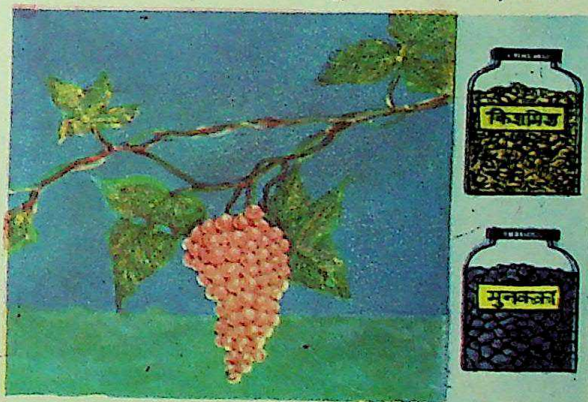
बहुत-से स्थानों में अंगूर पौधशालाओं में उगाए जाते हैं, क्योंकि बाहर जलवायु के गरम होने के कारण वे उग नहीं सकते। काला दाख अक्सर पौधशाला में ही होता है। पौधशाला में तापमान सावधानी से नियंत्रित किया जाना ज़रूरी है। ज़्यादा गर्मी या ज़्यादा ठंडक से अंगूर की बेल मुरझा जाती है।

किशमिश

मुनक्का

लम्बे हरे अंगूर

जामुनी अंगूर

लम्बे जामुनी अंगूर

काले अंगूर

बेदाना अंगूर

हरे अंगूर

अंबर (AMBER) : कितने ही पेड़ों से एक तरह के गोंद या राल की उत्पत्ति होती है। लाखों साल पहले भी पृथ्वी पर कई सदाबहार पेड़ ऐसी ही राल पैदा करते थे। इस तरह के कई पेड़ दलदलों में जा पड़े और कीचड़ से ढंक गए। हज़ारों-लाखों साल तक वे इसी तरह दबे
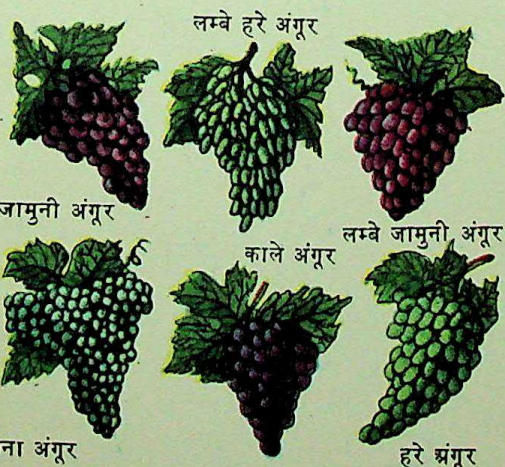
पड़े रहे और उनपर चढ़ी राल भी धीरे-धीरे अपना रूप बदलती गई। आज वह राल हमें अंबर या तृणमणि के रूप में मिलती है।

अंबर में कभी-कभी हमें कीट-पतंगों के फ़ॉसिल भी मिलते हैं। वे कीट राल में फंस गए थे, जिससे उनकी देह विनष्ट नहीं हुई।

पुराने ज़माने में लोगों को यह नहीं मालूम था कि अंबर असल में है क्या। प्राचीन यूनानियों का ख्याल था कि अंबर के टुकड़े सूर्य के रथवान फेयाथन की बहनों के आंसू हैं। फेयाथन सूर्य के रथ को पृथ्वी के बहुत पास ले आया था, इसलिए देवताओं ने नाराज़ होकर उसे बिजली गिराकर मार दिया था। ये बहनें उसीके वियोग में आंसू गिराती थीं।

प्राचीन यूनानियों ने यह भी पता लगा लिया था कि

अंबर में प्राय: कीटों के फ़ॉसिल सुरक्षित मिल जाते हैं।

अंबर को ऊनी कपड़े से रगड़ने पर उसमें स्थिर बिजली आ जाती है।

अंबर से बड़े सुन्दर मोती बनाए जाते हैं। सजावट की और भी कई चीज़ें बनाने में इसका उपयोग होता है।

अग्निसह भवन (FIRE-RESISTANT HOUSES) : हम जिन मकानों में रहते हैं, उनमें कभी-कभी आग भी लग जाती है। यदि ये मकान अग्निसह न हों तो बहुत ज्यादा क्षति होने की आशंका रहती है। न केवल उनमें रहनेवाले मर जाते हैं, बल्कि खुद मकान भी नष्ट हो जाते हैं।

इसलिए लोग ऐसे मकान बनाना पसंद करते हैं जो आग को सह सकें। सामान्यतया आग लगने पर आग का तापमान 700 डिग्री सेंटीग्रेड से 900 डिग्री सेंटीग्रेड तक रहता है। अत: जिन वस्तुओं से मकान बनाया जाए, उन्हें इतना ताप सह सकने योग्य होना चाहिए। ईंट, कंक्रीट तथा पकाई हुई अथवा कच्ची मिट्टी इत्यादि वस्तुएं अग्निसह भवन बनाने के काम में लाई जाती हैं। भारत में प्राय: सभी मकान इन वस्तुओं से बनते हैं, इसलिए वे अग्निसह होते हैं।

यूरोप के मकानों में, सर्दी से बचने की दृष्टि से, लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। लकड़ी अग्निसह नहीं है। लोहा भी आंशिक रूप से ही अग्नि सह सकता है। क्योंकि जलते हुए मकानों में लोहा पिघलता तो नहीं, पर फैलता और मुलायम हो जाता है, इसलिए जहां लोहे का प्रयोग आवश्यक हो वहां उसे कंक्रीट या रीइन्फोर्स्ड कंक्रीट के भीतर दबा दिया जाता है।

कुछ रासायनिक द्रवों के लेप से लकड़ी को भी अग्निसह बनाया जा सकता है। ऐस्बेस्टस में अग्नि सहन करने का गुण विशेष मात्रा में होता है। इसलिए आजकल मकान बनाने में इसका अधिक उपयोग होने लगा है।

और भी अनेक उपायों से भवनों को अग्निसह बनाया जा सकता है।

अनईकट्टू (एनीकट) (ANICUT) : 'अनईकट्टू' तमिल भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है बांध। अंग्रेज़ी में इसे 'एनीकट' कहते हैं। लेकिन यह बांध प्राय: छोटा होता है, आजकल बननेवाले बांधों की तरह विशाल नहीं होता।

इसे छोटी नदियों या नालों में बनाया जाता है। जलाशयों के ऊपर अतिरिक्त जल की निकासी के लिए जो बांध या पक्की दीवार बनाई जाती है, उसे भी अनईकट्टू कहते हैं।

ऐसे बांध नदी के आरपार बनाए जाते हैं, जिससे बांध से पहले नदी का तल ऊंचा हो जाता है। फिर नदी की बगल में नहरें निकालकर उनमें पानी दिया जाता है।

अनन्नास (PINEAPPLE) : स्वादिष्ट फलों में अनन्नास का एक विशेष स्थान है। इसका उत्पत्ति-स्थान दक्षिणी अमरीका का ब्राज़ील देश है। हवाई द्वीप, क्वींसलैंड व मलयेशिया में इसकी खेती खूब होती है। भारत में अनन्नास मद्रास, मैसूर, केरल, असम, पश्चिमी बंगाल तथा उत्तरप्रदेश के तराई वाले भागों में पैदा किया जाता है।

अनन्नास एक उष्ण-कटिबंधीय पौधा है। इसकी अनेक किस्में हैं, जिनमें क्वीन, मारीशस और स्मूथकेयने प्रमुख हैं। पुराने पौधों की जड़ों से निकले छोटे-छोटे पौधों को अलग कर अन्यत्र रोपने के लिए नये पौधे तैयार किए जाते हैं।

अनन्नास से शरबत, कैंडी और चटनी बनती है। डिब्बों में बन्द करके इसे संरक्षित भी किया जाता है। अनन्नास में विटामिन ए, बी और सी अच्छी मात्रा में होते हैं। इसमें कैल्सियम, फास्फोरस और लोहा भी होता है।

चावल गेहूं जौ मक्का 'राई' बाजरा जई

अनाज की कुछ मुख्य किस्में जो दुनिया के अधिकांश भागों में खाई जाती हैं।

अनाज (CEREALS) : हम सभी नित्य गेहूं, चावल, जौ, जई, मक्का और बाजरा, इत्यादि को तरह-तरह से पकाकर खाते हैं। ये सभी अनाज या धान्य परिवार में आते हैं। दुनिया के अधिकांश लोगों का भोजन इन्हीं अनाजों पर निर्भर करता है।

इन अनाजों से जलपान के भी अनेक पदार्थ तैयार होते हैं। सूजी का हलवा इनमें से बहुत आम है। इसे खाने के पहले भूनकर पकाया जाता है। दलिया भी इसी प्रकार की दूसरी जलपान के समय खाई जानेवाली चीज़ है। अक्सर हलवा और दलिया गर्म ही खाया जाता है।

जलपान के काम आनेवाले अनाजों को प्रायः दलकर सुखा लिया जाता है। कुछ को सेंककर, भाप देकर और कुचलकर पतले-चपटे फ्लेक्स बना लिए जाते हैं। इनमें नमक, चीनी, गुड़ या किशमिश आदि भी मिलाए जा सकते हैं।

विशेषज्ञों का कहना है कि हमें नित्य कुछ अनाज अवश्य खाना चाहिए, क्योंकि इनसे हमें कुछ ऐसी चीज़ें प्राप्त होती हैं जो अन्य किसी तरह नहीं मिल सकतीं। इनसे हमें कुछ विशेष खनिज और विटामिन प्राप्त होते हैं। अनेक खनिज और विटामिन इनके छिलकों में होते हैं। अक्सर लोग इन अनाजों की भूसी को अलग कर देते हैं। लेकिन अगर हम समूचे अनाज का प्रयोग करें तो हमें अधिक चीज़ें मिल सकेंगी।

(देखें : गेहूं; चावल; मक्का)

पहाड़ी स्थानों में लोग ढलानों पर बने सीढ़ीनुमा खेतों में अनाज उगाते हैं।

संसार के कितने ही भागों में बड़े-बड़े फार्मों पर मशीनों की सहायता से आधुनिक ढंग से अनाज की खेती की जाती है।

अनार (POMEGRANATE) : 'एक अनार और सौ बीमार' वाली कहावत आपने सुनी होगी। अनार सचमुच ऐसा फल है जो रोगियों के लिए बहुत ही लाभदायक है। इसके भीतर दाने बड़ी सुन्दरता से गुथे रहते हैं। अनार के दानों से प्रायः दांतों की उपमा दी जाती है।

अनार का उत्पत्ति-स्थान ईरान है। भारत में यह प्रत्येक राज्य में पैदा होता है, पर महाराष्ट्र में इसकी खेती बहुत होती है। अनार के दानों में 12-15 प्रतिशत चीनी होती है। इसका रस संरक्षण विधि से सुरक्षित रखा जा सकता है। मस्केट रेड, कंधारी, स्पेनिश रूबी, ढोलका और पेपरशेल भारत में प्रचलित अनार की किस्में हैं। अनार के पौधे के लिए जाड़ों में विशेष सर्दी और गर्मियों में विशेष गर्मी चाहिए। अधिक वर्षा इसके लिए हानिकारक है। एक पेड़ से प्रायः 60 से 80 तक फल मिलते हैं।

अफीम (OPIUM) : अफीम मादक वस्तु है। इसका प्रयोग नशे के लिए किया जाता है। परन्तु इससे अनेक प्रकार की दवाएं भी बनाई जाती हैं।

अफीम एक पौधे से निकाली जाती है, जो 3-4 फुट ऊंचा होता है। इसका फल जब कच्चा होता है, तभी उसमें चीरा लगा दिया जाता है। फिर उसमें से रस निकालकर सुखाया जाता है। फिर उसे शुद्ध किया जाता है और गोले या ईंटें बनाकर बेचा जाता है।

संसार में सबसे अधिक अफीम भारत में ही होती है। परन्तु यहां इसका प्रयोग अधिक नहीं होता। इसे विदेशों में भेजा जाता है। वहां इससे मारफीन, कोडीन आदि दवाएं बनाई जाती हैं। दर्द से छुटकारा पाने में अफीम का प्रयोग विशेष लाभदायक होता है।

जो लोग नशे के लिए अफीम खाते हैं, वे फिर उसे छोड़ नहीं पाते। दवा के रूप में अफीम खानेवालों के लिए भी उसे छोड़ना कठिन हो जाता है।

कुछ लोग अफीम को गोली के रूप में खाते हैं, या उसे घोलकर पीते हैं। कुछ लोग उससे निकाले गए रसायन, मारफीन का इंजेक्शन लेते हैं। कुछ लोग अफीम को तंबाकू की भांति आग के सहारे पीते हैं—इसे चंडू कहा जाता है।

अभिरंजित शीशा (STAINED GLASS) : बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में यूरोप की संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। हर क्षेत्र में खूब तरक्की हो रही थी। पर इस सारी तरक्की के पीछे मूल प्रेरणा धर्म की थी।

इन्हीं दिनों कुछ बहुत ही सुन्दर गिरजाघर और धार्मिक उपासना-गृह बने। जिस तरह इन गिरजाघरों के निर्माण में इंजीनियर और राजगीर अपनी कुशलता दिखाते थे, उसी तरह चित्रकार और मूर्तिकार इन्हें चित्रों और मूर्तियों से सजाने में अपनी सारी प्रतिभा खर्च कर देते थे। इन्हीं दिनों एक नई कला विकसित हुई। यह कला थी अभिरंजित शीशे बनाने की। उस काल के बने हुए गिरजाघरों की खिड़कियों को देखा जाए तो एक अपूर्व बात मिलेगी। इन खिड़कियों के शीशे रंगीन होते हैं, और इनमें कई रंगों के चित्र बने होते हैं। रंगीन शीशों की ऐसी खिड़कियां पहले नहीं बनती थीं।

रंगीन शीशे बनाने की कला बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में ही विकसित हुई। सबसे अच्छे रंगीन शीशे वेनिस के शीशे बनानेवाले बनाते थे। वे अभिरंजित शीशे बनाने का रहस्य छिपाकर रखते थे।

अभिरंजित शीशा बनाने के लिए एक बर्तन में बिल्लौरी बालू (क्वार्ट्ज़ सैंड) तथा किसी क्षार और किसी धातु के यौगिक का मिश्रण आग पर इतना गर्म किया जाता था कि वह पिघलने लगता था। वह मिश्रण पिघलकर गाढ़े द्रव में बदल जाता था। शीशा बनानेवाला एक
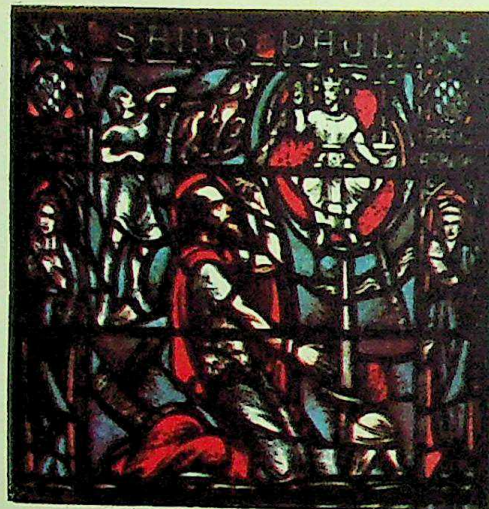
अभिरंजित शीशे की बनी एक खिड़की

लोहे की नली पर उस द्रव का कुछ अंश उठाता था और नली में फूंक मारता था। वह तब तक फूंक मारता रहता था जब तक द्रव एक बुल्ले का रूप न धारण कर लेता था। बुल्ला बनते ही वह तुरन्त एक पल में उसे अपने तख्ते पर डालकर उसे खोलकर चपटा कर देता था। इस तरह रंगीन शीशा तैयार हो जाता था। हर रंग के लिए अलग-अलग धातुओं के यौगिक इस्तेमाल होते थे। उन्हींकी शुद्धता, अशुद्धता से शीशे का रंग बनता-बिगड़ता था।

अभिरंजित शीशे की खिड़की बनाने के लिए पहले सफेदी किए हुए तख्ते के ऊपर खिड़की की डिज़ाइन बना ली जाती थी। रंगीन शीशों को डिज़ाइन के अनुसार काटा जाता था। यह कटाई 'ग्रोज़िंग आयरन' नाम के एक औज़ार से की जाती थी। हीरे की कनी से शीशा काटने की विधि बाद में आविष्कृत हुई। शीशे के इन टुकड़ों को
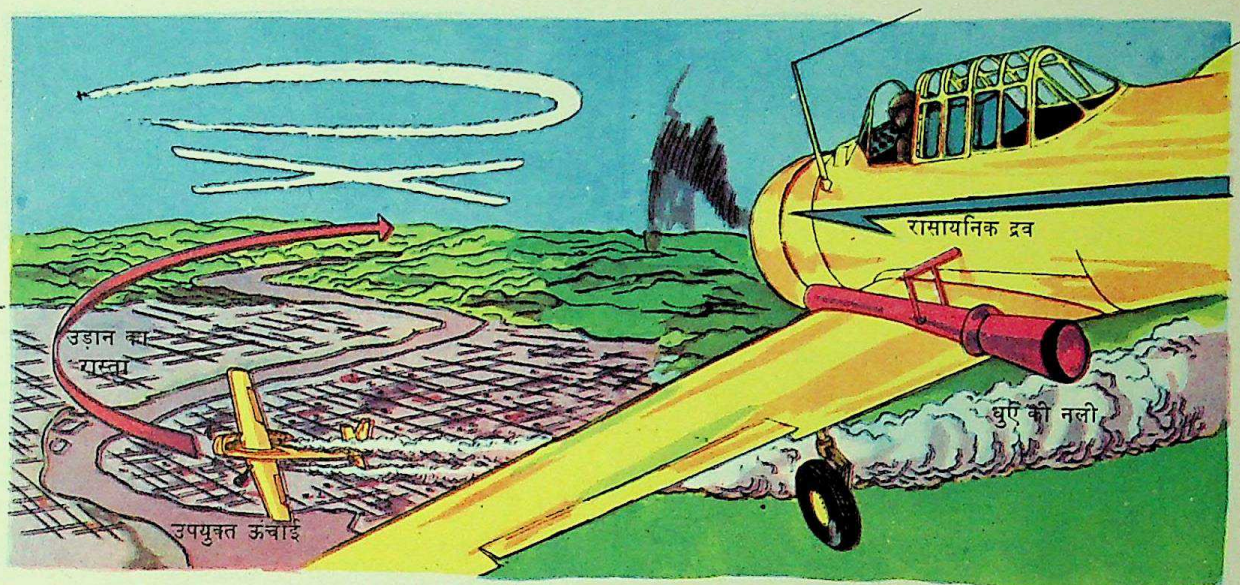
आकाश-लेख विज्ञापन का सबसे नया और प्रभावशाली तरीका है।

सीसे (लेड) की पट्टियों से जोड़ा जाता था। इससे शीशे के टुकड़ों के लिए सीसे का एक ढांचा ही बन जाता था। इसमें लगे हुए शीशे के टुकड़े आध इंच मोटे होते थे। अभिरंजित शीशों से होकर आती हुई सूर्य की रोशनी कैथेड्रल के भीतर के दृश्य को बहुत मनोरम बना देती थी।

अभिरंजित शीशे की बनी खिड़कियों में आरम्भ में मात्र रंग-बिरंगी डिज़ाइनें होती थीं। फिर शीशों के टुकड़ों से चित्र बनाए जाने लगे। इन्हें बनानेवाले सादा शीशा बनाते थे और उसपर इच्छानुकूल रंग की एक विशेष कलई चढ़ा लेते थे। कुछ अत्यन्त सुन्दर रंगों के बनाने का रहस्य शायद अब नहीं ज्ञात है। धीरे-धीरे पुराने अभिरंजित शीशे का स्थान कलई करके रंगीन किए गए शीशे लेते गए। आजकल तो नई-नई विधियों से अभिरंजित शीशे बनाए जाते हैं। (देखें : शीशा)

अरारूट (ARRAROOT) : बीमारी के दिनों में अरारूट के बिस्कुट प्रायः सभीने खाए होंगे। यह एक प्रकार का मांड होता है जो सुगमता से पचनेवाला होता है। यह कुछ पौधों की जड़ों से निकाला जाता है।

ये पौधे गर्म प्रदेशों में प्राप्त होते हैं। इनकी जड़ें काफी मोटी होती हैं। इन जड़ों को तोड़कर धोया जाता है और इनका छिलका उतार लिया जाता है। फिर इन्हें पीसकर लुगदी बनाई जाती है। लुगदी को अच्छी तरह धोकर उसके रेशों को निकाल दिया जाता है। फिर शेष भाग का पानी निकालकर मांड को अलग किया जाता है। इसे सुखाकर बाज़ार में बेचा जाता है। यही अरारूट है।

आकाश-लेख (SKYWRITING) : आजकल कुछ पश्चिमी देशों में आकाश में भी लिखाई होने लगी है। हवाई जहाज़ काफी ऊंचाई पर उड़ता हुआ सफेद धुएं की एक धार छोड़ता जाता है, जिससे कुछ देर में कोई अक्षर बन जाता है। यह विज्ञापन का एक सबसे नया और प्रभावशाली तरीका है। इसे 'स्काई राइटिंग' कहते हैं। इस प्रकार के एक संदेश के लिए कई हज़ार रुपये खर्च करने पड़ते हैं।

चालक पहले हवा की ताकत और दिशा की जांच करता है। वह हवाई जहाज़ को उस ऊंचाई पर ले जाता है जहां हवा ठीक होती है। फिर वह एक खटके को दबाता है, जिससे हवाई जहाज़ के टैंक में भरा एक विशेष द्रव उस नली में पहुंचने लगता है जिसमें से भाप बाहर निकलती है। वहां इंजन से आनेवाली गैसें अपनी गर्मी से उस द्रव को एक गाढ़े सफेद धुएं में बदल देती हैं। यह धुआं एक लम्बी धार के रूप में जहाज़ से बाहर निकलता है। अब चालक हवाई जहाज़ को बड़ी तेज़ी से इस तरह घुमाता हुआ ले जाता है कि इस धुएं से कोई अक्षर बन जाता है। वह अक्षरों को ऊपर-नीचे नहीं लिखता। पर, नीचे ज़मीन पर से वे ऐसे दिखाई देते हैं मानो ऊपर-नीचे हों।

प्रत्येक अक्षर कोई एक मील लम्बा होता है। आकाश में लम्बे संदेश नहीं लिखे जा सकते। हवा लगभग दस मिनट में अक्षर को मिटा देती है। अंग्रेज़ी के कुछ अक्षर ऐसे हैं जो सीधे, उल्टे, हर तरह से लिखे जा सकते हैं और हर तरफ से पढ़े जा सकते हैं, जैसे 'O' और 'X'। कुछ अक्षरों के लिखने में कठिनाई होती है, जैसे 'K' और 'S'।

आकाश-लेख के लिए अब ज़्यादातर दो हवाई जहाज़

इस्तेमाल किए जाते हैं, जो एकसाथ काम करते हैं। अगर एक 'T' की ऊपर की लाइन बनाता है तो दूसरा नीचे की। दोनों लाइनें एक-दूसरे को छूती नहीं हैं। इनमें कोई 50 फुट का अन्तर होता है। पर, वे नीचे ज़मीन पर से मिली हुई नज़र आती हैं।

सबसे पहला आकाश-लेख 30 मई, 1922 को इंग्लैंड में लंदन के निकट लिखा गया था और वह एक अंग्रेज़ी समाचार पत्र का नाम 'डेली मेल' था। उसका लेखक आकाश-लेख का आविष्कारक मेजर जे० सी० सैवेज था।
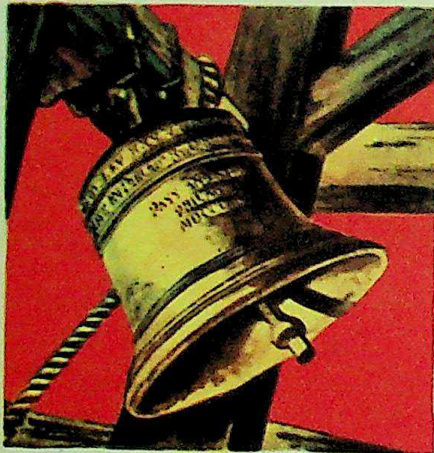
अमरीकी स्वाधीनता दिवस के दिन यह आज़ादी का घंटा बजाया जाता है।

आज़ादी का घंटा (LIBERTY BELL) : अमरीका में फिलाडेल्फिया के पुराने राजभवन के अन्दर, जिसे अब स्वाधीनता हॉल कहते हैं, एक बड़ा घंटा लटका है। यह आज़ादी का घंटा कहलाता है। हर साल अमरीकी स्वाधीनता दिवस के दिन, यानी 4 जुलाई को यह घंटा बजता है। कुछ और खास मौकों पर भी इसे बजाते हैं।

यह घंटा इंग्लैंड में बना था और संयुक्त राज्य अमरीका की स्थापना से 24 वर्ष पहले, 1752 में, फिलाडेल्फिया लाया गया था। जब इसे पहली बार बजाया गया तभी इसमें दरार पड़ गई। बाद में यह गलाकर फिर से ढाला गया।

1776 में अमरीकी उपनिवेश इंग्लैंड के शासन से मुक्त हो गए। 4 जुलाई को फिलाडेल्फिया के राजभवन में कांग्रेस द्वारा स्वाधीनता की घोषणा स्वीकृत की गई। इसके चार दिन बाद राजभवन में आज़ादी का घंटा बजाया गया, ताकि शहर के लोग घोषणा सुनने के लिए वहां इकट्ठे हो जाएं।

यह घंटा कांसे का बना है और तीन फुट ऊंचा है। वज़न में यह एक टन से भी भारी है। इसपर बाइबिल की ये पंक्तियां खुदी हुई हैं : "समस्त भूमि पर और उसके सभी निवासियों के लिए स्वतंत्रता की घोषणा करो।"

आतिशबाज़ी (FIREWORKS) : हमारे देश में दीवाली के दिनों में खूब आतिशबाज़ी होती है। तरह-तरह के पटाखे छोड़े जाते हैं। कई देशों में ऐसे त्योहार होते हैं जब पटाखे छोड़े जाते हैं। उत्सवों पर आतिशबाज़ी करने का रिवाज काफी पुराना है।

किसी बड़े पटाखे को तैयार करने का तरीका इस प्रकार है : एक खोखली नली में कई छोटे-छोटे खाने बना लिए जाते हैं। हर खाने के बीच में बारूद की एक खोखली गेंद रख दी जाती है। बारूद में गोंद और चपड़ा मिला रहता है ताकि गेंद की शक्ल न बिगड़े। इसमें कुछ रासायनिक द्रव्य भी मिले रहते हैं जिनके कारण जलते समय इसमें से रंग-बिरंगी रोशनी निकलती है।। गेंद के चारों तरफ थोड़ा-सा बारूद भर दिया जाता है। जब इस बारूद में आग लगाई जाती है तो इसमें विस्फोट होता है और गेंद पटाखे में से बाहर की तरफ छूट जाती है। एक खाने के बाद दूसरे खाने के बारूद में विस्फोट होता है और गेंदें गोली की तरह एक-एक करके छूटती हैं। ऊपर जाकर ये गेंदें भी पटाखे की आवाज़ के साथ फट जाती हैं।
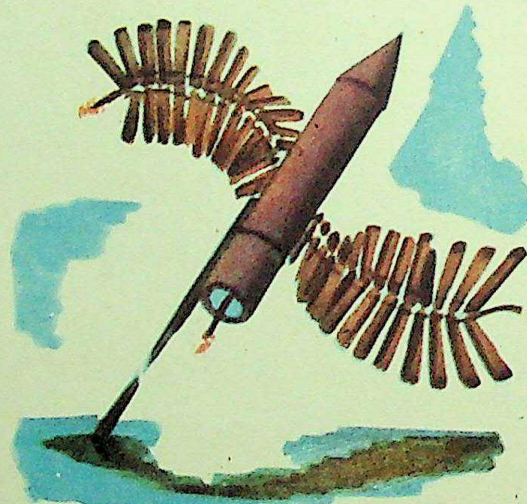
पटाखे बहुत तरह के होते हैं। लेकिन वे सभी एक ही तरह के रसायनों वगैरह से बनते हैं।

आतिशबाज़ी केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं है, इसके कुछ रचनात्मक उपयोग भी हैं। जब जहाज़ संकट में होता है तो उसपर से रॉकेट या अग्निवाण छोड़े जाते हैं। इन रॉकेटों को देखकर किनारे के रक्षक या दूसरे जहाज़ डूबते हुए जहाज़ के लोगों को बचाने के लिए दौड़ पड़ते हैं।

आभूषण (JEWELLERY) : आभूषणों की कहानी बहुत पुरानी है। हर ज़माने में लोग किसी न किसी तरह के आभूषण बनाना जानते थे। लिखने की कला सीखने के युग तक तो आभूषण बनानेवाले कुशल कारीगर बन गए थे।

कटाई व पालिश के लिए जवाहरात को ऐसी डंडियों पर जमा दिया जाता है

सादे जवाहरात की कटाई और पालिश

नकली जवाहरात बनाना

नकली लाल

नकली पन्ना

नकली नीलम

एल्यूमिना पाउडर

हाइड्रोजन

ऑक्सीजन

भट्टी

बाउल

कटा हुआ बाउल

डायमंड पहिये द्वारा गोमेद की कटाई-छंटाई

डायमंड पहिया
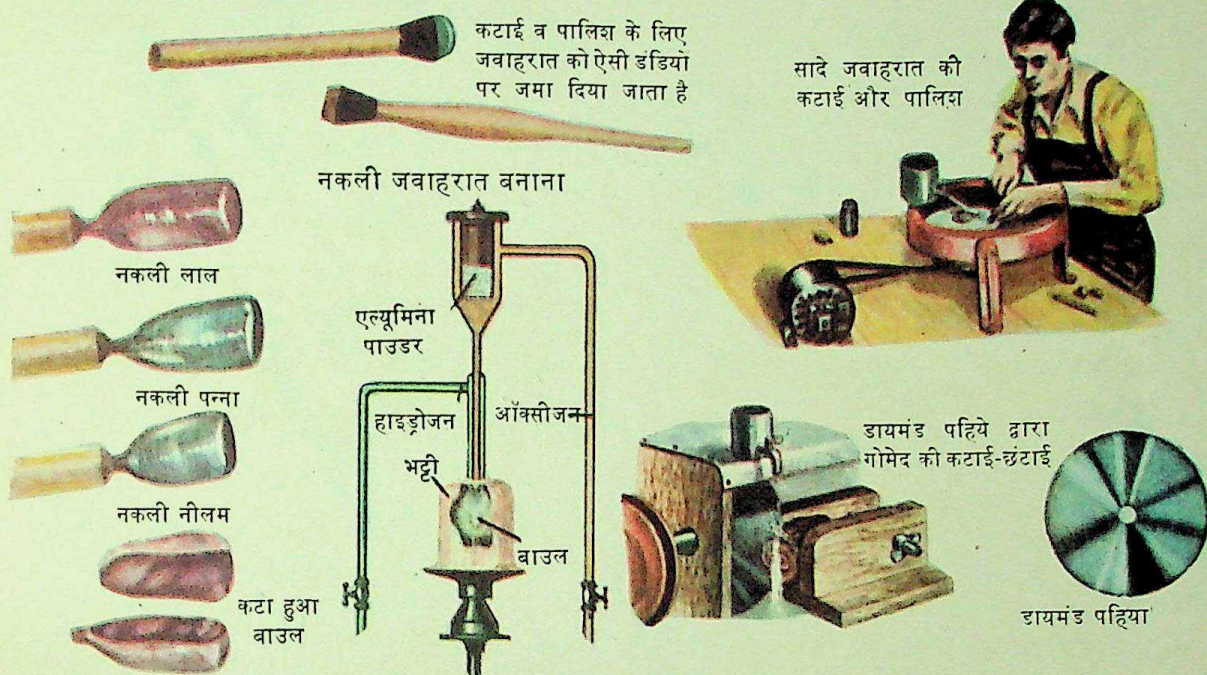
मिस्र के प्राचीन काल के लोग अपने आभूषणों को रंगने के शौकीन थे। वे नीलम और इन्द्रगोप मणि का बहुत अधिक प्रयोग करते थे। दूसरी ओर यूनान के निवासी सिर्फ मोतियों का इस्तेमाल करते थे और वह भी बहुत थोड़ा। रोमनों के शक्तिशाली हो जाने के पहले इटली में बसनेवाले 'एट्रुस्कान' लोग सोने पर नक्काशी करने के लिए मशहूर थे। कोलम्बस के अमरीका पहुंचने के पहले वहां के आदिवासी आभूषण बनाते थे।

आभूषण अधिकतर सोने, चांदी और प्लैटिनम के बनाए जाते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं। हार, कंगन, अंगूठी, बाली, मनके, बाल और चूड़ी के पिन, क्लिप इत्यादि आभूषणों की कुछ किस्में हैं।

आभूषणों का इस्तेमाल विशेष करके शरीर की सजावट के लिए होता है। लेकिन इससे दूसरे मतलब भी हल होते हैं। आदिम जातियों द्वारा पहने जानेवाले कुछ आभूषणों के बारे में यह माना जाता है कि ये भूत-प्रेतों से रक्षा करते हैं। कभी-कभी आभूषणों और जवाहरात को मर्यादा का सूचक भी मानते हैं। राजाओं और रानियों के मुकुट रत्नजटित होते हैं। दुनिया के कुछ हिस्सों के लोग आभूषण अपनी सम्पन्नता को सूचित करने के लिए पहनते हैं।

पुराने ज़माने में सभी आभूषण हाथों से बनते थे। आज भी सबसे उम्दा आभूषण कुशल कारीगरों के हाथों के बने हुए ही होते हैं। जेवर बनाना एक तरह का शौक भी है। आज अधिकतर आभूषण मशीनों से बनते हैं।

जैसे कपड़ों के फैशन होते हैं वैसे ही आभूषणों के भी फैशन होते हैं। आजकल प्लैटिनम चांदी का स्थान लेता जा रहा है। आभूषणों का चलन सम्भवत: सदा बना रहेगा। (देखें : जवाहरात की नक्काशी)

प्राचीन काल के आभूषण

आम (MANGO) : गरम देशों में आम को 'फलों का राजा' कहा जाता है। भारत का यह एक प्रमुख फल है। हमारे यहां आम से सम्बन्धित अनेक कहावतें और लोक-गीत प्रचलित हैं, और हवन, यज्ञ, पूजा, कथा, त्योहार आदि मंगल-कार्यों में आम की लकड़ी, पत्तों, फूल या किसी न किसी अन्य भाग का प्राय: उपयोग होता है।

आम का इतिहास बहुत पुराना है। आम्र प्रजाति सम्भवत: बर्मा, स्याम और मलाया में उत्पन्न हुई। परन्तु भारत में होनेवाला आम जंगली अवस्था में पहले-पहल बर्मा और असम में या केवल असम में ही पैदा हुआ

होगा। भारत के बाहर के लोगों का ध्यान इस फल की ओर सबसे पहले संभवत: सातवीं शताब्दी में प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनत्सांग ने ही आकर्षित किया था।

आम के पेड़ भारत में कन्याकुमारी से हिमालय की तराई तक और पंजाब से असम तक होते हैं। अनुकूल जलवायु मिलने पर यह पेड़ 50-60 फुट तक ऊंचा हो जाता है। आम के कुछ पेड़ तो बहुत ही बड़े हो जाते हैं। बुड़नगांव (चंडीगढ़) में 'छप्पर' नाम का एक आम का पेड़ है जिसके तने का घेरा 32 फुट है। इसकी अनेक शाखाएं 12 फुट तक मोटी और 80 फुट तक लम्बी हैं। यह पेड़ 2,700 वर्गगज़ स्थान घेरे हुए है और साल में औसतन 450 मन फल देता है।

आम की लगभग 1,400 किस्मों का हमें पता है। विभिन्न प्रकार के आमों के रंग, आकार और स्वाद में बड़ा अन्तर होता है। कुछ आम बेर से भी छोटे और कुछ ढाई किलो तक के होते हैं। आम की कुछ बढ़िया किस्मों में अलफ़ांजो, दसहरी, चौसा, सफ़ेदा, सरौली, बनारस का लंगड़ा आदि उल्लेखनीय हैं।

आम का पका फल बहुत ही स्वादिष्ट और रसीला होता है। कच्चे फल से चटनी, अचार, लौंजी, खटाई, मुरब्बा आदि बनते हैं। आम की लकड़ी गृह-निर्माण और घरेलू सामग्री के काम आती है तथा ईंधन के रूप में भी प्रयुक्त होती है। आम की छाल, जड़, पत्ते, फूल और फल विभिन्न रोगों में प्रयोग में लाए जाते हैं। आम के फल में विटामिन ए और सी होते हैं।

आर्बर डे (ARBOR DAY) : भारत में जैसे प्रतिवर्ष वन महोत्सव मनाया जाता है, उसी तरह अमरीका के प्रत्येक राज्य में हर साल वसन्त का कोई एक दिन पेड़ लगाने के लिए नियत रहता है। इस दिन को आर्बर डे कहते हैं। सब राज्यों में और हर साल आर्बर डे एक ही दिन नहीं होता। सबसे पहला आर्बर डे 1872 में नेबरास्का में मनाया गया था। आजकल यह दिन कनाडा के भी कुछ भागों में मनाया जाता है।
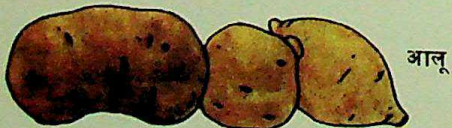
आलू

आलू (POTATO) : आरंभ में आलू दक्षिणी अमरीका की पर्वतीय ढालों पर ही होता था। पेरू आदि कई देशों में अब भी जंगली आलू पैदा होता है, अर्थात् इसे कोई बोता नहीं, यह अपने आप उग आता है।

पेरू जीतने के बाद स्पेनी योद्धा पिज़ारो आलू को दक्षिणी अमरीका से यूरोप ले गया।

आलू का जो हिस्सा हम खाते हैं, वह जड़ की तरह नीचे दबा होता है। असल में यह कन्द है। जब सबसे पहले आलू का पौधा जर्मनी पहुंचा तब वहां लोगों को यह नहीं पता था कि इसका कौन-सा भाग खाया जाए। उन्होंने कड़वे बीजोंवाला हिस्सा खा लिया और इस नतीजे पर पहुंचे कि यह वनस्पति खाने योग्य नहीं है। लेकिन बाद में गलती का पता चला और लोग खूब आलू खाने लगे। जहां बहुत ज़्यादा आलू होता है, वहां इसे जानवरों को भी चारे के रूप में खिलाया जाता है।
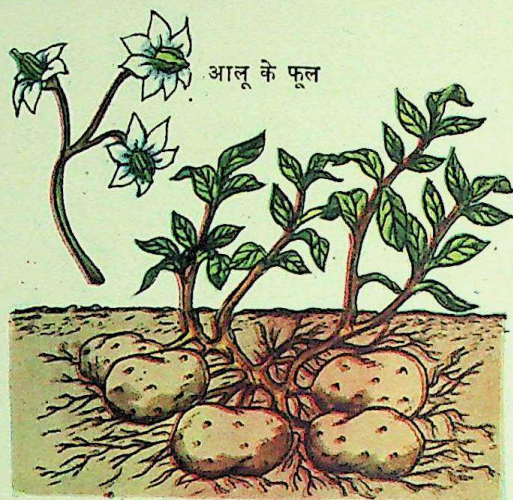
आलू के फूल

आलू ज़मीन के नीचे पैदा होता है।

इकेबाना (IKEBANA) : फूलों को गुलदस्ते में सजाने का रिवाज बहुत पुराना है और दुनिया के प्रायः सभी देशों में मिलता है। परन्तु फूलों को सजाने की कला का सबसे अधिक विकास जापान में हुआ है, जहां इसे इकेबाना कहते हैं। इकेबाना की लोकप्रियता दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है और आज अनेक देशों की कलाप्रेमी स्त्रियां इसकी शिक्षा ले रही हैं।

इकेबाना या जापानी फूल-सज्जा में आकृति या रंग की अपेक्षा रेखाओं पर अधिक ज़ोर रहता है। इसके अनेक भेद हैं, पर प्रत्येक फूल-सज्जा आम तौर पर फूलों या शाखाओं के तीन या इससे अधिक तिकोने समूहों से बनी होती है। डिज़ाइन अधिकतर वृक्ष अथवा झाड़ी की कुछ टहनियों और छोटे-छोटे फूलों से, जो वृक्ष की जड़ में फूटते हैं, बनाई जाती है। टहनियां बड़े कलात्मक ढंग से काटी जाती हैं। फूलों को ताज़ा बनाए रखने के लिए आजकल भौतिक और रासायनिक दोनों ही साधन काम में लाए जाते हैं।

जापान में नव वर्ष पर देवदारु और सफेद गुलदाउदी सफेद गुलदस्तों में सजाए जाते हैं। विवाह के समय दो 'पाइन' वृक्षों से फूल-सज्जा की जाती है। गुड़ियों के उत्सव पर चेरी और 'पीच' के फूलों और जन्मोत्सव के लिए 'आइरिस' से फूल-सज्जा होती है।

इत्र-फुलेल (PERFUMES) : गुलाब, चमेली, मोगरा, चम्पा आदि फूलों में बड़ी सुगंध होती है। इन फूलों में एक किस्म का तेल होता है। इसीसे यह सुगंध आती है। यह तेल छोटे-छोटे कीड़ों और पतंगों को आकृष्ट करता है, जो फूलों के पराग को दूर तक ले जाते हैं।

फूलों की सुगंध से ही इत्र बनता है। कहा जाता है कि भारत में इत्र बनाने का आविष्कार नूरजहां ने किया था।

यूरोप में समस्या यह थी कि यदि फूलों का सुगंधित अंश निकाल लिया जाए तो वह ऐसी किस चीज़ में रखा जाए जिससे वह जल्दी उड़ न जाए। ऐसे कुछ पदार्थ जानवरों में मिले। इनमें से एक ऐम्बरग्रीस है। यह एक तरह का मोम होता है जो ह्वेल मछली में मिलता है। कुछ ऐसे पदार्थ कस्तूरी मृग, ऊदबिलाव और बिल्ली से मिलते हैं। विभिन्न प्रकार के सेंट बनाने में मद्यसार या ऐलकोहल भी काम आता है।

वायलेट और स्वीट पी के फूल सेंट बनाने के लिए काम में लाए जाते हैं।

फूलों के अलावा कुछ और पौधों में भी बड़ी मीठी गंध होती है। यह गंध किसी पौधे की पत्तियों में, किसीके डंठलों में, जड़ों, फूलों या बीजों तक में मिलती है। इनका तेल भी पुष्पों के सेंट में मिलाया जाता है।

ढेर से पुष्पों से बहुत थोड़ा इत्र निकलता है। लेकिन आजकल के अधिकांश सस्ते सेंट फूलों से नहीं बनाए जाते हैं। वे वास्तव में कोलतार से बनते हैं। वैज्ञानिकों ने ऐसी विधियां जान ली हैं जिनसे कोलतार से विभिन्न फूलों की खुशबू वाले सेंट बनाए जा सकते हैं।
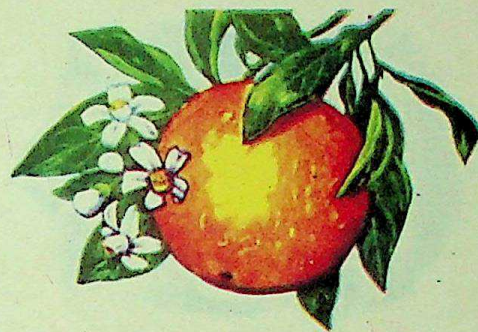
वैसे फूलों से सुगंध बहुत दिनों से बनाई जा रही है। मिस्र के पुराने अवशेषों में सुगंध रखने के पात्र मिले हैं। रोमवासी भी इत्र-फुलेल बनाना जानते थे। कोलम्बस के दिनों में पूर्व से आनेवाले जहाज़ मसालों के साथ इत्र भी यूरोप ले जाते थे। आजकल फ्रांस में सबसे अच्छे सेंट बनते हैं। वहां नाइस के निकट ग्रास में इसका बहुत बड़ा उद्योग है। (देखें : ऐंबरग्रीस)

नारंगी के फूलों में बड़ी अच्छी सुगंध होती है।

इनैमल (ENAMEL) : अनेक घरों में लोहे या टीन के ऐसे बर्तन प्रयोग में लाए जाते हैं जिनपर कांच या चीनी मिट्टी की एक सफेद परत चढ़ी होती है। इसे इनैमल कहते हैं।

इनैमल की कला बड़ी पुरानी है। प्राचीन काल में सोने और चांदी के बर्तनों और आभूषणों पर भी इनैमल किया जाता था और उनपर सुन्दर डिज़ाइनें बनाई जाती थीं। मिट्टी की बनी वस्तुओं पर भी इनैमल किया जाता था।

इनैमल करने के लिए धातु को पहले साफ किया जाता है। उसे आग में तपाकर गंधक के तेज़ाब (सल्फ्यूरिक एसिड) के घोल में डालते हैं। इससे उसपर चढ़ा ज़ंग तथा अन्य अशुद्धियां बिलकुल नष्ट हो जाती हैं। फिर उसे सोडे से धोया जाता है और उपयुक्त इनैमल के लेप में डुबोया जाता है। फिर सुखा लिया जाता है।

इमारती सामान (BUILDING MATERIALS) : अति प्राचीन काल में मकान बनाने में सबसे ज़रूरी जो चीज़ समझी जाती थी, वह थी लकड़ी। परन्तु लकड़ी के मकान खतरनाक होते हैं—उनमें आग आसानी से लगती है। फिर भी इमारती कामों में लकड़ी का काफी प्रयोग होता है। साल, बलूत और सागौन की लकड़ी अच्छी समझी जाती है।

प्राचीन काल से ही इमारती कामों में पत्थरों का प्रयोग होता आया है। पत्थर की इमारतों में सबसे बड़ी बात यह होती है कि वे मज़बूत होती हैं और जल्दी नष्ट नहीं होतीं। हमारे प्राचीन मन्दिरों, मठों और भवनों में से अनेक पत्थर के बने हुए हैं। अधिकांश इमारतों में जिन पत्थरों का उपयोग होता है, वे हैं: चूने का पत्थर, संगमरमर, ग्रेनाइट, बलुआ पत्थर आदि।

ईंटों का उपयोग मकान बनाने में सबसे अधिक प्रचलित है। इन्हें पकाकर काम में लाया जाता है। ईंटों

इमारती सामान का उपयोग

पत्थर की झोंपड़ी

ईंटों से बना होटल

लकड़ी का घर

ईंट का गैरेज

मैक्सिको का एक मिट्टी का घर

पत्थर का बना अमरीकी कांग्रेस भवन
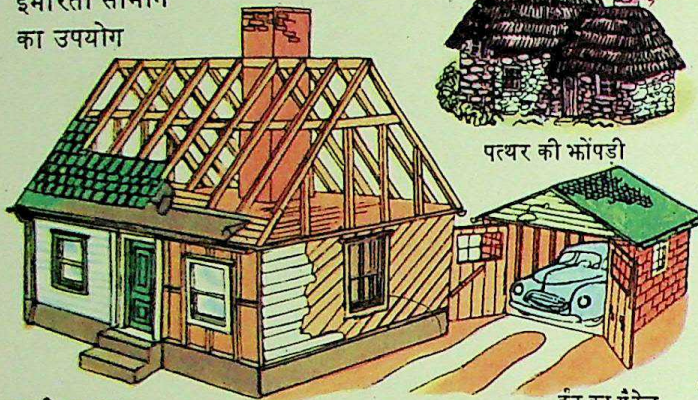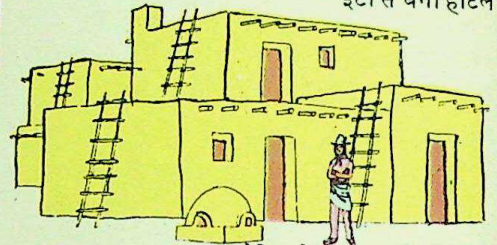
का आकार प्रायः एक ही रखा जाता है, ताकि इनकी चिनाई में सुविधा रहे।

आधुनिक काल में मनुष्य द्वारा निर्मित इमारती सामान की मांग अधिक है। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण है कंक्रीट। लोहे के सरियों का सांचा बनाकर उसमें कंक्रीट को ढाला जाता है, और इस तरह इमारती काम के लिए सबसे मज़बूत सामान तैयार होता है।

मकान बनाते समय सामानों के चुनाव में कई बातें सोचनी पड़ती हैं, जैसे इनसे मकान देखने में कैसे लगेंगे? वे कितने दिन टिक सकेंगे? उनकी लागत क्या पड़ेगी? उनकी मरम्मत में कितनी आसानी रहेगी? उनमें आसानी से आग तो नहीं लगेगी? पुल, सुरंगें, बांध वगैरह बनाते समय भी हमें इन्हीं बातों को सोचना पड़ता है।
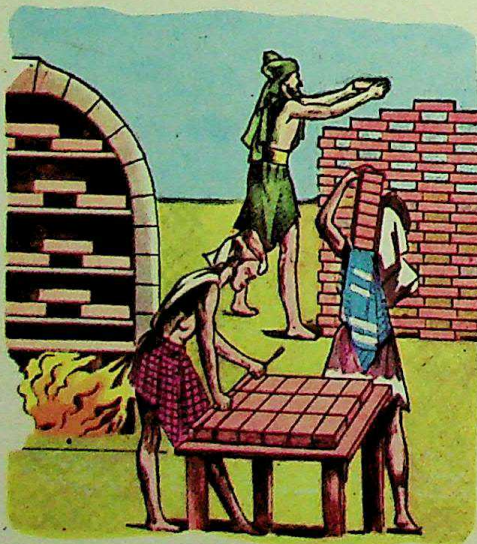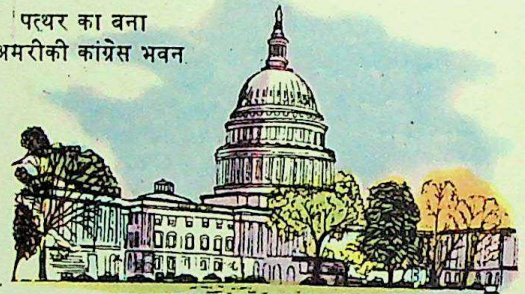
ईंट बनाने की कला बड़ी प्राचीन है।

ईंट (BRICK) : हज़ारों साल से लोग मकान बनाने के लिए ईंटों का प्रयोग करते आ रहे हैं। बहुत प्राचीन काल में ईंटें केवल धूप में सुखाकर बनाई जाती थीं। ये ईंटें गीली मिट्टी से बनाई जाती थीं। गीली मिट्टी में आम तौर से कुछ भूसा मिला दिया जाता था। भूसा मिलाने से गारा फैल नहीं पाता था और ईंटें मज़बूत बनती थीं। लेकिन लगभग 5,000 साल पहले लोगों ने भट्ठे में ईंटें पकाने की विधि जान ली। आम तौर से अब ईंटें भट्ठों में पकाई जाती हैं। ईंटों के भट्ठे का तापमान 2,000° फा० तक होता है। भट्ठे में पकने पर ईंटें बहुत मज़बूत हो जाती हैं।

पकी हुई ईंटें भी कई प्रकार की होती हैं। कुछ ईंटें चिकनी और पालिशदार होती हैं। कुछ ईंटें भट्ठियों की दीवारों में लगाने की होती हैं। इन्हें 'फायर ब्रिक' या आतशी ईंटें कहते हैं। इनमें सिलिका का अंश काफी होता है। ये ईंटें काफी तेज़ आंच सहन कर सकती हैं।

ईंटों को दीमक आदि से कोई हानि नहीं पहुंचती। आग का भी ईंटों पर कोई असर नहीं होता। इसीलिए ईंटों से बनी इमारतें काफी टिकाऊ मानी जाती हैं।

ईंट, अग्निसह (FIRE BRICK) : जिन ईंटों से हमारे मकान बनाए जाते हैं, वे अधिक गर्मी नहीं सह सकतीं। अधिक गर्मी पाने पर वे या तो गल जाती हैं या टूट और चटख जाती हैं। इसलिए जिन मकानों में—जैसे कार-

खाने—आग जलाकर कुछ बनाने का कार्य किया जाता है, उनमें एक विशेष प्रकार की ईंटें लगाई जाती हैं। इन्हें अग्निसह ईंटें कहते हैं। 'अग्निसह' का अर्थ है, आग को सह सकनेवाली।

जिस मिट्टी से अग्निसह ईंटें बनाई जाती हैं, उसे अग्निसह मिट्टी कहते हैं। यह मिट्टी भी विशेष प्रकार की होती है। यह विशेष स्थानों पर ही पाई जाती है। इसमें चूना, मैग्नीशिया, पोटाश, सोडा, बालू तथा एल्यूमिनियम ऑक्साइड मिला होता है। इसमें बालू और एल्यूमिनियम ऑक्साइड जितना अधिक होगा, उतनी ही अधिक मिट्टी भी अच्छी होगी और आग को सुगमता से झेल सकेगी। यह मिट्टी विशेषतः कोयले की खानों के आसपास पाई जाती है।

ईंटें बनाने के लिए इसे खोदकर बारीक पीस लिया जाता है। फिर पानी में सानकर सांचों में ढाला जाता है और पकाया जाता है। फिर इन्हें कारखानों की भट्टियां, चिमनियां और अंगीठियां बनाने के काम में लाया जाता है। लोहा बनाने की धमन भट्टी की भीतरी सतह पर भी इसका उपयोग किया जाता है। कहीं-कहीं अग्निसह मिट्टी का पलस्तर बनाकर उसका लेप भी किया जाता है।

अच्छी अग्निसह ईंट 2,500 से 3,000 डिग्री सेंटीग्रेड तक ताप सह सकती है।

उद्योग (INDUSTRIES) : कुछ देश कृषि-प्रधान हैं। वहां के अधिकांश लोग अपनी जीविका खेती से चलाते हैं। कुछ दूसरे देश उद्योग-प्रधान हैं। वहां के अधिकांश लोग कल-कारखानों, खानों और मिलों में काम करते हैं।

उदाहरण के लिए, ब्रिटेन एक उद्योग-प्रधान देश है। अगर ब्रिटेन में वे कल-कारखाने न रहें जिनमें पैदा होने-वाले माल की धूम पूरे संसार में है तो ब्रिटेन का जीवन-स्तर काफी नीचे गिर जाएगा। ब्रिटेन अपने विभिन्न प्रकार के बड़े-बड़े उद्योगों पर गर्व कर सकता है जो लाखों लोगों को रोज़ी देते हैं।

भारत यद्यपि एक कृषि-प्रधान देश है परन्तु यहां भी उद्योगों का तेज़ी से विकास हो रहा है। चीनी उद्योग, वस्त्र उद्योग, लोहा और इस्पात उद्योग तथा चमड़ा उद्योग आदि इसके प्रमुख उद्योगों में हैं।

(देखें : औद्योगिक क्रान्ति)

ऊन (WOOL) : कपड़ा बनाने के काम आनेवाले रेशों में ऊन शायद सबसे पहले प्रयोग में आया था। आज यह कोई नहीं जानता कि ऊनी कपड़ों का बनना कब शुरू हुआ। शायद यह उस युग में ही शुरू हो गया था जिसका कोई लिखित इतिहास प्राप्त नहीं है।

ऊन के रेशे घुंघराले होते हैं जो भेड़ के शरीर पर

मत्स्य उद्योग

लोहा-इस्पात उद्योग

तेल

वस्त्र उद्योग

खान खोदना

परमाणु शक्ति
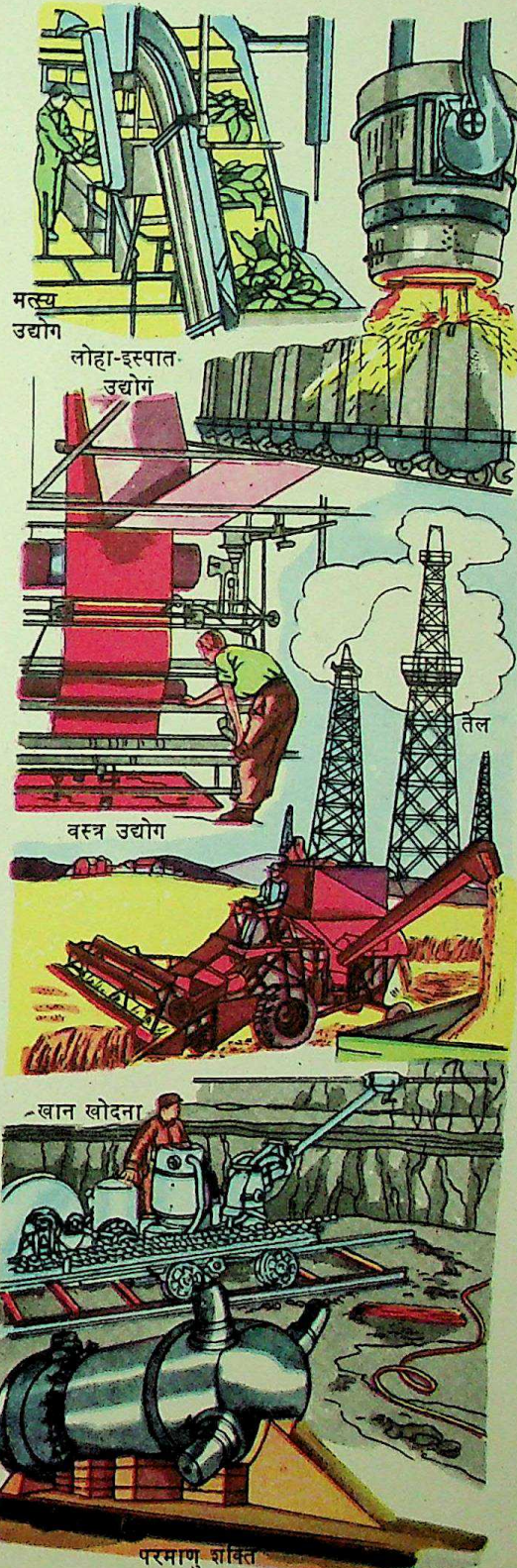
उगकर उसे गर्मी देते हैं। ऊन के हर रेशे पर ऊपर-तले हल्की पपड़ियां होती हैं, जैसीकि मछली के शरीर पर होती हैं। इन पपड़ियों को सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखा जा सकता है।

दुनिया में कम से कम 200 प्रकार की भेड़ें पाई जाती हैं। इनमें कुछ बड़ी होती हैं, कुछ छोटी। कुछ भेड़ों के बाल लम्बे होते हैं कुछ के छोटे। कुछ का ऊन मुलायम

आदिम मनुष्य ऊन को कंघे से सुलझाकर कातता-बुनता था।

होता है कुछ का रूखा। मेरिनो भेड़ का ऊन सबसे बढ़िया माना जाता है।

एक किस्म की भेड़ों से एक ही कोटि का ऊन प्राप्त नहीं होता। ऊन की कोटि कई बातों पर निर्भर करती है। भेड़ का स्वास्थ्य, उसका भोजन, मौसम और भेड़ की आयु, इन सारी बातों का प्रभाव ऊन पर पड़ता है। सबसे अच्छा ऊन कम उम्र की भेड़ों से प्राप्त होता है, जिसे 'मेमने का ऊन' कहते हैं।

पुराने ज़माने में सारे ऊनी कपड़े घर पर ही बनाए जाते थे। पुरुष भेड़ों को मूंडते थे और औरतें ऊन को सीधा करती थीं। इसके लिए एक तरह के तार के कंघे का प्रयोग किया जाता था। जब ऊन सीधा हो जाता था तो स्त्रियां उससे धागा कातती थीं। कताई के लिए पहले तकलियां काम में लाई जाती थीं। बाद में चर्खे का आविष्कार हो गया। धागा कत जाने पर औरतें कपड़ा बुनती थीं। कभी-कभी बुनाई के पहले धागे को रंग लिया जाता था। कुछ बुनकर बुनाई के बाद कपड़ों को रंगते थे।

आज भी भेड़ों को मूंडकर ऊन प्राप्त किया जाता है। भेड़ों को मूंडने के लिए आज बिजली की मशीनें भी तैयार हो गई हैं। छोटी जगहों पर आज भी यह काम हाथ से ही किया जाता है। ऊन को इकट्ठा करके उसकी गांठें बना ली जाती हैं और फिर वह बाज़ार में बिकने के लिए चला जाता है।

ऊन की मिलों में पहले ऊन की छंटाई होती है। फिर गन्दगी को अलग करने के लिए उसकी धुलाई होती है। इसके बाद साफ और गीला ऊन एक अलग कमरे में ले जाकर सुखाया जाता है। सूखने पर वह सफेद, मुलायम और रोएंदार हो जाता है।

इसके बाद ऊन के रेशों को सीधा किया जाता है, और फिर ढीला बट दिया जाता है। बढ़िया ऊनी कपड़े के लिए केवल लम्बे रेशों को ही काम में लाया जाता है। ऊन के बड़े रेशों को छोटे रेशों से अलग कर लेते हैं। फिर ऊन कताईघर में जाता है। यहां मशीनें रेशों को ऐंठकर धागा तैयार करती हैं। अब यह बुनाई के लिए तैयार हो गया।

अधिकतर ऊन की रंगाई की जाती है। रंगाई का काम धुनाई, कताई या बुनाई के पहले हो सकता है। बुनाई के बाद भी कभी-कभी रंगाई की जाती है। कभी-कभी ऊन को बिना काते और बुने ही, भाप देकर व दबाकर कपड़ा तैयार किया जाता है। इसे फेल्ट कहते हैं। नमदे इसी प्रकार बनाए जाते हैं।

आस्ट्रेलिया ऊन के उत्पादन में दुनिया में सबसे आगे है। (देखें : कपड़ा)
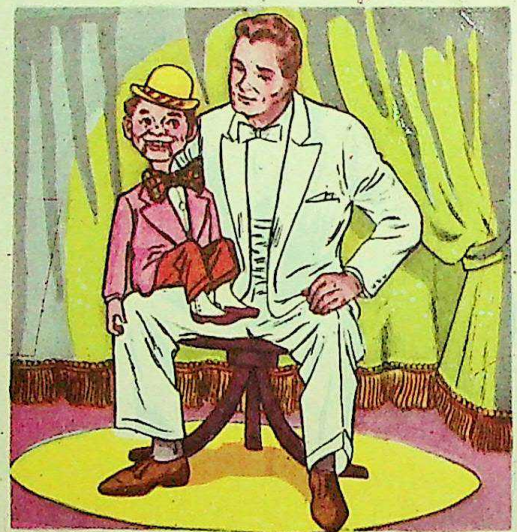
वाणी-ऐंद्रजालिक और नक़ली मनुष्याकृति

ऐंद्रजालिक वाणी (VENTRILOQUISM) : कुछ लोग एक तमाशा करते हैं। इस तमाशे में वे जो बोलते हैं वह ऐसा लगता है जैसे उनके मुंह से न निकलकर कहीं और से आ रहा हो। इस तमाशे को ऐंद्रजालिक वाणी और ऐसा तमाशा करनेवाले को वाणी-ऐंद्रजालिक (Ventriloquist) कहते हैं। टेलीविज़न पर अक्सर अनेक वाणी-ऐंद्रजालिकों के करतब देखने को मिलते रहते हैं। अक्सर आवाज़ के इन जादूगरों के पास एक गुड़िया या नकली मनुष्याकृति रहती है। उनके तमाशे का कमाल यह होता है कि आवाज़ उस नकली मनुष्याकृति के मुंह से आती हुई लगती है।

अच्छा वाणी-ऐंद्रजालिक बनने के लिए बड़ा अभ्यास करना पड़ता है। बोलते समय उसके ओंठ नहीं हिलने

चाहिए। 'प' या 'ब' से शुरू होनेवाले शब्दों का उच्चारण कर पाना ऐंद्रजालिक के लिए बहुत कठिन होता है, क्योंकि ओठों को हिलाए बिना इनका उच्चारण नहीं हो सकता। उसके मुंह से 'बहना' शब्द 'कहना' की तरह निकलता है। एक अच्छा ऐंद्रजालिक किसी कोने में इस अंदाज़ से देखता है जैसे आवाज़ उसी ओर से आ रही हो। देखनेवाले लोग भी ऐंद्रजालिक को न देखकर उसी दिशा में देखने लगते हैं। इस तरह वह लोगों को बेवकूफ बना देता है।

ऐंद्रजालिक वाणी के करतब नये नहीं हैं। प्राचीन यूनानी इस विद्या से परिचित थे। उनमें से अनेक लोग इसे प्रेत-लीला समझते थे।

ऐंबरग्रीस (AMBERGRIS) : यह ह्वेल मछलियों की आंतों में पैदा होनेवाली एक मोम-जैसी चीज़ है। असल में इसका पैदा होना ह्वेल को आंतों की बीमारी होने का लक्षण है। लेकिन ह्वेल की बीमारी से हमें क्या !

ऐंबरग्रीस का उपयोग बढ़िया और महंगी सुगंधियां बनाने में किया जाता है। इसके कारण इत्रों में काम आनेवाले फूलों के तेलों की गंध उड़ती नहीं, बल्कि तेज़ ही हो जाती है।
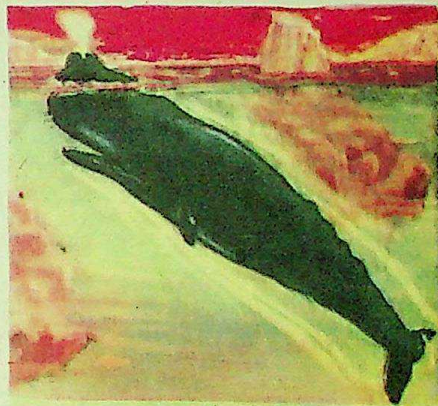
इत्रों के लिए ऐंबरग्रीस ह्वेल मछलियों से मिलती है।

अधिकतर ऐंबरग्रीस ह्वेल मछलियों की आंतों से ही निकाली जाती है और बड़े ऊंचे दामों में बिकती है।

ऐपल्सीड, जॉनी (JOHNNY APPLESEED 1774-1845) : आज से कोई सवा सौ साल पहले अमरीका के सीमा-प्रदेशों में लोग नये-नये बसने शुरू हुए थे। उन दिनों वहां जॉन चैपमैन नाम का एक व्यक्ति बहुत ही लोकप्रिय था, जिसे

जॉनी के लिए जंगल घर था और वह जीव मात्र से प्रेम करता था।

सब लोग जॉनी ऐपल्सीड, यानी सेब के बीजोंवाला जॉनी, कहते थे। नंगे पैर, फटे-पुराने कपड़े पहने और सेब के बीजों का थैला लिए, वह सदा इधर से उधर विचरता रहता था।

जॉनी को बस एक ही धुन थी। वह जिस फार्म पर भी जाता, सेब के बीज देता और लोगों से सेब के पेड़ लगाने का आग्रह करता। बीजों के बदले में वह खाना ले लेता और यदि देखता कि आदमी गरीब है तो उसे मुफ्त ही बीज दे देता। वह खुद भी सेब के पेड़ लगाता रहता था।

लोग उसका बड़े प्रेम से स्वागत करते थे। वह बच्चों को कहानियां सुनाता, उनके लिए सीटियां बना देता, और रात को भोजन के बाद ज़ोर-ज़ोर से बाइबिल पढ़ता। जब तक उसे यह निश्चय न हो जाता कि सब के लिए काफी खाना है, वह खुद कभी खाना न खाता था। वह भूखा होने पर भी कभी किसी जीव की हत्या न करता था। कहते हैं कि एक बार उसने अपनी आग इसीलिए बुझादी कि उसमें मच्छर गिर रहे थे।

औज़ार (TOOLS) : मनुष्य दूसरे जीवों से कहीं आगे है। इसका एक कारण तो यह है कि उसका दिमाग अधिक अच्छा है। दूसरा कारण यह है कि उसके हाथ बड़े निर्माण-कुशल हैं। अपने अच्छे मस्तिष्क के कारण मनुष्य ने तरह-तरह के औज़ार बनाने की सोची और अपने निर्माण-कुशल हाथों से उन्हें बनाने व उनका उपयोग करने में सफलता प्राप्त की। मनुष्य को छोड़कर कोई अन्य जीव न तो औज़ार बना सकता है और न उनका उपयोग ही कर सकता है।

चित्र में दिखाई गई कुल्हाड़ियां पत्थर की हैं, और प्राचीनतम युगों की हैं। आरंभिक दिनों में सभी औज़ार पत्थर से बनाए जाते थे। प्रारंभ में औज़ार उन पत्थरों से बनाए गए जो कुदरती तौर पर कूटने-पीसने या काटने में काम आ सकते थे। लेकिन धीरे-धीरे हमारे गुफावासी पूर्वजों ने पत्थरों को तराशकर अपनी ज़रूरतों के मुताबिक औज़ार बनाना सीख लिया होगा। उन्होंने पत्थरों के बने नुकीले औज़ारों में, चमड़े की पट्टियों से बांधकर, लकड़ी की बेंट लगाना भी शुरू कर दिया।

वह ज़माना, जबकि लोग पत्थर को तराशकर उसके औज़ार बनाया करते थे, 'प्राचीन पाषाण युग' के नाम से विख्यात है। इसके बाद 'नवीन पाषाण युग' आया। अब लोगों ने पत्थर के सुघड़ औज़ार बनाना शुरू कर दिया। वे अब पत्थर को घिसकर चिकना और सुंदर बना लेते थे।
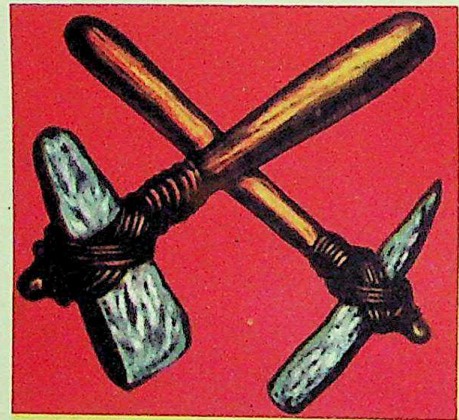
पाषाण युग के औज़ार

कालांतर में पत्थरों के औज़ारों का स्थान कांसे के औज़ारों ने ले लिया। इसके बाद लोहे का युग आरंभ हुआ। औज़ारों के विकास में औज़ार बनाने के लिए लोहे का

विभिन्न प्रकार के औज़ार

सुम्बा
लेवल
गुनिया
गुनिया
आरी
पेंचकस
पतली आरी
हाथ बरमा
खतकश
रिंच
कातो
कोपिंग आरी
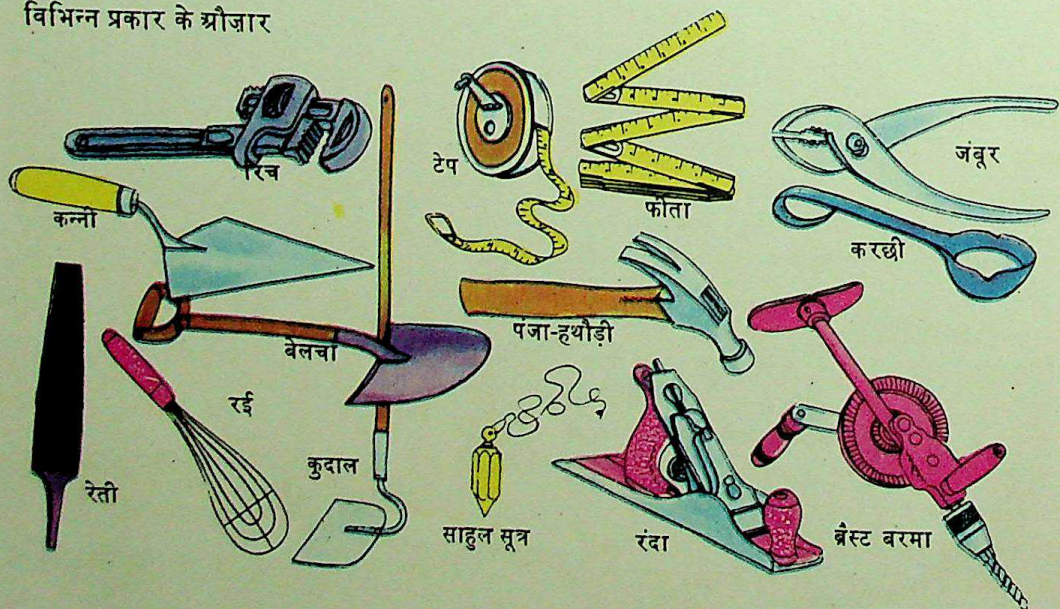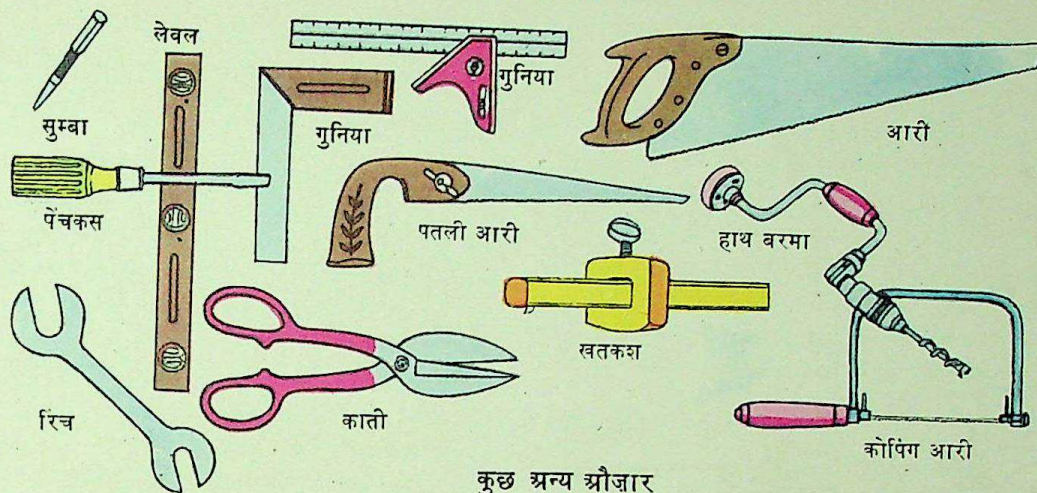
कुछ अन्य औज़ार

प्रयोग सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। आज कारीगर हाथ के जिन औज़ारों का प्रयोग करते हैं उन सबका निर्माण इसी युग में शुरू हुआ।

चित्र में प्रदर्शित सभी औज़ार हाथ से काम आनेवाले हैं। आजकल बिजली की मोटरों से चलनेवाले औज़ार भी बनाए जाते हैं। ये हाथ के औज़ारों से कहीं अधिक तेज़ी से काम करते हैं।

औज़ारों की ज़रूरत बहुत-से कामों में पड़ती है। बढ़इयों और फर्नीचर बनानेवालों का तो उनके बिना काम ही नहीं चल सकता। मिस्त्रियों का काम भी औज़ारों के अभाव में नहीं चल सकता। ईंटों के भट्ठों और प्लास्टर के कारखानों में भी औज़ारों का काम पड़ता है। लेकिन बहुत से लोग केवल मनोरंजन के लिए भी औज़ारों से काम लेते हैं। अनेक लोग दस्तकारी की किताबें और औज़ार खरीद लेते हैं और उनमें बताए गए तरीकों से उन चीज़ों को खुद तैयार करते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति (INDUSTRIAL REVOLUTION) : सदियों पहले आदमी बिना औज़ारों की सहायता के हाथ से ही काम करता था। लगभग दो शताब्दी पहले एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। आदमी का स्थान मशीनें लेने लगीं। इस परिवर्तन के काल को औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं।

इसका प्रारम्भ ब्रिटेन में सूत कातने और कपड़ा बुनने के उद्योग के साथ हुआ। सन् 1770 के पहले तक कताई और बुनाई उसी तरह होती थी जैसे वह 3,000 वर्षों से होती आई थी। 1770 में सूत कातने की एक ऐसी चर्खी का आविष्कार हुआ जिसकी मदद से एक आदमी आठ आदमियों के बराबर सूत कात सकता था। फिर उससे भी अच्छी मशीनें तैयार हुईं जिनमें से कुछ को जलशक्ति द्वारा चलाया जा सकता था। फिर भाप का इंजन तैयार हुआ। जेम्स वाट ने एक ऐसी मशीन का आविष्कार किया जो दूसरी मशीनों को चला सकती थी। कताई और बुनाई की मशीनों को कहीं भी चलाया जा सकता था। अब यह ज़रूरी नहीं रह गया कि मशीनें किसी नदी या धारा के पास ही लगाई जाएं। इन मशीनों का प्रयोग दूसरे उद्योगों में होने लगा। ये दूसरे देशों में भी फैल गईं।

आरम्भ में मशीनों के कारण बहुत-से लोग बेकार हो गए। इसे लेकर दंगे-फसाद हुए। पहले मज़दूर अपने घरों पर काम करते थे। पर पानी या भाप से चलनेवाली इन मशीनों को घरों में नहीं लगाया जा सकता था। इसलिए कारखाने खुले और उनमें काम करनेवालों के लिए मकानों की कतारों पर कतारें खड़ी हो गईं। शुरू में काम करने के लिए बच्चों को भी लगाया जाने लगा। उन्हें जवान लोगों से कम पैसा दिया जाता था। उनसे
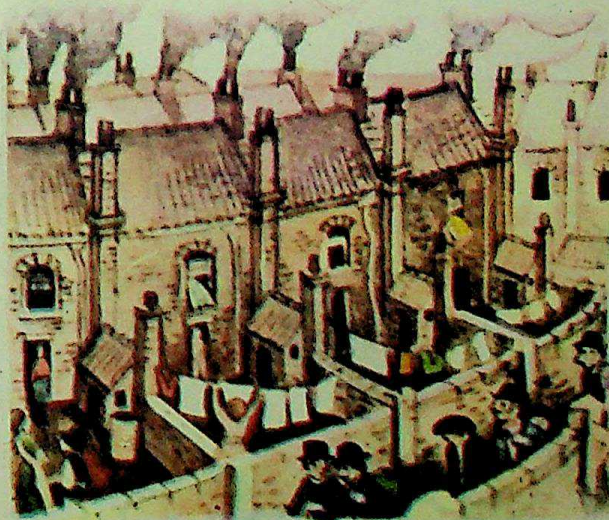
मज़दूरों के लिए शुरू में बने तंग और अंधेरे मकान

उद्योगों के लिए कोयला इतना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि कोयले का उत्पादन स्वयं एक बड़ा उद्योग बन गया।
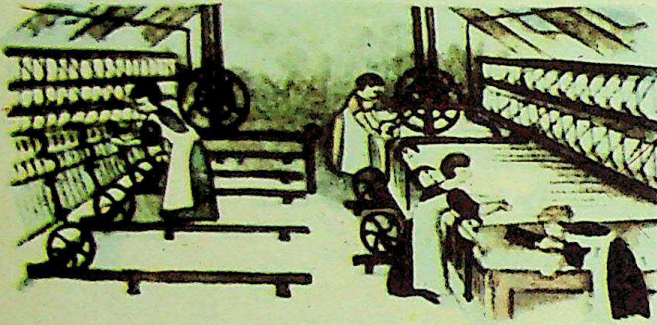
आरंभ में कारखानों में स्त्रियां तक कठिन काम करती थीं और उन्हें पुरुषों से कम मज़दूरी मिलती थी।

दिन में 12 से 14 घण्टे तक काम लिया जाता था और उनके साथ बुरा व्यवहार होता था। इसके अलावा मशीनों से चोट लगने का खतरा भी था।

धीरे-धीरे इन दोषों को दूर किया गया। अब कम उम्र के लड़के कारखाने में काम नहीं करते। यह गैरकानूनी हो गया है। मज़दूरों की रक्षा के लिए भी कानून बना दिए गए हैं।

औद्योगिक क्रान्ति से बहुत लाभ हुए हैं। मशीनों ने आदमी का दम तोड़नेवाला काम खुद अपने ज़िम्मे ले लिया है। चीज़ें अब सस्ती और पहले से ज़्यादा बनने लगी हैं। पुराने ज़माने में जो सुख-सुविधाएं केवल धनी लोगों को नसीब थीं वे आज हम सब को प्राप्त हैं।

कंक्रीट (CONCRETE) : बहुत-से बड़े बांध कंक्रीट से बने हैं। सैकड़ों मील लम्बी सड़कें कंक्रीट की बनाई गई हैं। कंक्रीट इमारतों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

साधारण कंक्रीट बनाने के लिए सीमेंट, पानी, रेत, रोड़ी या बजरी मिलाने का काम मशीनों द्वारा किया जाता है। इस मिश्रण को लकड़ी या इस्पात के सांचों में डालकर इच्छित आकृति दी जाती है। जब कंक्रीट कठोर हो जाती है तो सांचे को हटा दिया जाता है। कंक्रीट के ब्लाक बनाकर इमारतें बनाने के काम में लाए जा सकते हैं।

तरह-तरह के कामों के लिए तरह-तरह की कंक्रीट इस्तेमाल की जाती है। प्रायः उसमें लोहे के सरिये डाले जाते हैं। उसे प्रबलित (रीइन्फोर्स्ड) कंक्रीट कहते हैं।

हल्की कंक्रीट के लिए प्यूमिस और वर्मीकुलाइट जैसी रेत से हल्की चट्टानों की रोड़ी और बजरी काम में लाई जाती है। कंक्रीट में आग नहीं लगती। इसे दीमक और कीड़े नहीं खाते। यह दूसरे बहुत-से पदार्थों की अपेक्षा सस्ती भी रहती है और इसीलिए पसन्द की जाती है।

इस तरह के एक बड़े बांध में सैकड़ों टन कंक्रीट लगती है।
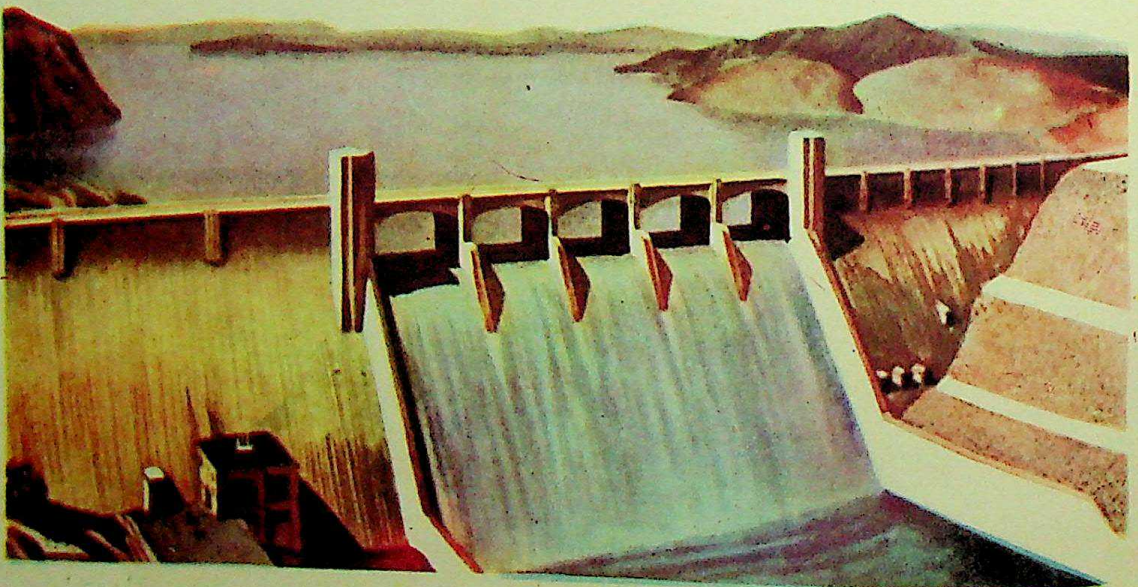
कठपुतली (PUPPETS) : कठपुतली का खेल बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। विद्वानों का मत है कि कठपुतली के खेल का आरम्भ भारत में हुआ था।

कठपुतलियां चार तरह की होती हैं—हाथ की कठपुतली, डंडोंवाली कठपुतली, छाया कठपुतली और रस्सीवाली कठपुतली।

हाथ की कठपुतलियों को खेल दिखानेवाला हाथों में दस्ताने की तरह चढ़ा लेता है। हाथ और उंगलियों को हिलाने-डुलाने से ये पुतलियां खेल दिखलाती हैं।

दूसरे प्रकार के खेल में डंडों के ऊपर कुछ कठपुतलिया लगा दी जाती हैं। डंडों को घुमाने-फिराने से वे चलती हैं। उन्हें नीचे से चलाया जाता है। जावा में इस तरह की कठपुतलियों के बड़े सुन्दर खेल होते हैं। जावा के कठपुतली खेल पर भारतीय प्रभाव बहुत गहरा है। इन कठपुतलियों द्वारा वहां रामायण और महाभारत की कथाओं की नकल उतारी जाती है।

छाया-कठपुतलियों के खेल में केवल कठपुतलियों की छाया को ही दर्शक देख पाते हैं, कठपुतलियों को नहीं। यह खेल चीन में अत्यन्त लोकप्रिय है।

रस्सीवाली कठपुतलियां नीचे मंच पर रहती हैं और सूत्रधार ऊपर। ऊपर से वह रस्सियों द्वारा कठपुतली पात्रों का नियंत्रण करता है। हर कठपुतली के लिए कम से कम तीन रस्सियां होती हैं। किसी-किसी कठपुतली में रस्सियों की संख्या तीस तक पहुंच जाती है।

मध्ययुग में यूरोप में कठपुतलियां बड़ी लोकप्रिय थीं। कठपुतलियों का तमाशा दिखलानेवाले मेलों और बाज़ारों आदि में खेल दिखलाते फिरते थे। भारत में भी हर जगह कठपुतली के तमाशे दिखलाए जाते थे।

भारत में राजस्थान के कठपुतली नचानेवाले आज भी जगह-जगह अपना खेल दिखाते हैं। वे खेल के साथ गाकर पूरी की पूरी कथा कहते जाते हैं। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि पश्चिमी देशों में आजकल कठपुतली के खेल में काफी विकास हुआ है। यूरोप और इंग्लैंड के प्रसिद्ध लेखकों और संगीतज्ञों ने कठपुतलियों के लिए नाटक और संगीत रचनाएं की हैं।

कताई और बुनाई (SPINNING AND WEAVING) : आदमी ने पहले कातना सीखा या बुनना, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। शुरू-शुरू में शायद सूतनुमा घासों और लम्बी पत्तियों के टुकड़ों से बुनाई की गई होगी। करीब-करीब उसी तरह जिस तरह बच्चे कागज़ की पट्टियों से बुनाई करते हैं। कताई का प्रारम्भ जालों और धनुषों की तांत के लिए डोरियां बटने से हुआ होगा। फिर बाद में रेशों को बटकर ऐसे डोरे या धागे बनाए गए होंगे जिनसे कपड़े बुनकर बनाए जा सकें।

सन या जूट के पौधे के तने से निकाले गए रेशों

चीनी छाया कठपुतली

हाथ की स्थिति

हाथवाली कठपुतली

रस्सीवाली कठपुतली के जोड़

हाथ से रस्सियों का नियंत्रण

यूरोप की कठपुतली

को बटकर मज़बूत धागा बनाया जा सकता है, इस बात का पता किसने लगाया यह भी किसीको नहीं मालूम। यह भी किसीको नहीं मालूम कि किसने सबसे पहले सन के डोरों से बुनकर लिनेन बनाया। लेकिन यह हमें मालूम है कि 5,000 वर्ष से भी अधिक पहले प्राचीन मिस्रवासियों के पास लिनेन के कपड़े थे। प्राचीन मिस्र में एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी राजा के सन की देखभाल के लिए नियुक्त था।

भेड़ों के ऊन के धागों से बना हुआ ऊनी कपड़ा भी बहुत प्राचीन काल से बनाया जाता रहा है। एक-एक

एक आदिम मनुष्य धागे से कपड़ा बुनते हुए

करके ऐसे रेशों की खोज होती रही जिनका धागा कातकर कपड़ा बुना जा सके। ऊन जैसे कुछ रेशे पशुओं से प्राप्त होते थे। पाट (लिनन) और सूत पौधों से मिलते थे।

शुरू में सारी कताई हाथ से ही की जाती थी। कातनेवाला रेशों के बड़े ढेर में से धागे खींचता चला जाता था। फिर वह उन्हें तकुए पर भांजते हुए बटता था। जैसा चर्खा आजकल होता है, वैसा चर्खा मध्ययुग के पहले नहीं बना था। चर्खे के द्वारा कातनेवाला तकुए को तेज़ी से भांज सकता था।

बुनाई के करघे शुरू-शुरू में लकड़ी के सीधे-सादे ढांचे होते थे। ताने के धागे उनपर कसे रहते थे। बाने के धागे उनपर पड़े डाले जाते थे। बाने के धागों के सिरों पर लकड़ी या हड्डी के टुकड़े बंधे रहते थे। इनसे ताने के धागों को नीचे-ऊपर करते हुए बाने के धागे को एक सिरे से दूसरे सिरे तक निकालने में सहायता मिलती थी।

जब कताई और बुनाई हाथ से की जाती थी तब या तो लोग घरों में ही कताई-बुनाई करते थे, या छोटी-छोटी दूकानों में। 200 साल पहले कताई-बुनाई में महान परिवर्तन आया। कई तकुओं वाली चर्खी 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार हुआ। फिर 'स्पिनिंग फ्रेम' और 'स्पिनिंग म्यूल' भी आविष्कृत हुए। फिर कातने की मशीनों को चलाने के लिए पहले पनचक्कियों का और फिर वाष्प इंजनों का प्रयोग होने लगा। शक्ति-चालित करघों का भी आविष्कार हुआ। फिर फैक्टरियां भी बनने लगीं, क्योंकि कामगर इन बड़ी मशीनों को खुद नहीं खरीद सकते थे।

आज भी कुछ कपड़ा हाथ करघों पर बुना जाता है, पर ज़्यादातर कपड़ा मिलों में ही बनता है। भारत में अहमदाबाद, बम्बई, दिल्ली, नागपुर, कानपुर, ग्वालियर, कलकत्ता, मद्रास आदि में कपड़े बनाने के बड़े-बड़े कारखाने हैं, जहां लाखों मज़दूर काम करते हैं और इन कारखानों में हर साल करोड़ों गज़ कपड़ा बुना जाता है।

आजकल पौधों और पशुओं से प्राप्त रेशों के अतिरिक्त नायलोन और रेयन जैसे बहुत-से मनुष्य-निर्मित रेशों से भी कपड़े बुने जा रहे हैं। ये रेशे बहुत तरह के होते हैं। इनसे बने कपड़ों में कुछ तो रेशम की तरह ही मुलायम होते हैं। (देखें : कपड़ा; बुनाई; वस्त्र)

कपड़ा (TEXTILES) : हम सभी कपड़ा पहनते हैं। कपड़ा सभ्यता की देन है। कपड़ा किसी पेड़ पर नहीं उगता

जैसे रोटियां किसी पेड़ पर नहीं फलतीं। हम गेहूं से जैसे रोटियां बनाते हैं वैसे ही पेड़ों के रेशों या जानवरों के ऊन से धागे बनाते हैं और इन धागों को बुनकर कपड़ा तैयार करते हैं। बीसवीं शताब्दी के पहले तक ज़्यादातर चार किस्म के धागे कपड़ा बुनने के काम आते थे : कपास, पाट या लिनेन, रेशम और ऊन। इनमें कपास और पाट के धागे के लिए रेशे इनके पौधों से मिलते हैं। रेशम और ऊन के रेशे जन्तुओं से प्राप्त होते हैं। आजकल बहुत-से कपड़े मनुष्य-निर्मित रेशों से भी बनाए जाते हैं। रेयन और नायलोन दो प्रसिद्ध मनुष्य-निर्मित रेशे हैं। रोज नये-नये मनुष्य-निर्मित रेशों का आविष्कार जारी है।

लगभग सारी बुनाई करघों पर की जाती है। हज़ारों साल तक केवल हाथ से चलनेवाले करघे ही काम में आते थे। ज़्यादातर बुनाई घरों में होती थी। अब ज़्यादातर बुनाई मिलों और कारखानों में भाप या बिजली से चलनेवाले करघों पर होती है।

प्राचीन काल में भारत के बने हुए कपड़े सारे संसार में बिकते थे। ढाके की मलमल के बारे में आज भी कहानियां कही जाती हैं। ये कपड़े हाथ करघों पर बुने जाते थे। यूरोप में वाष्प-चालित करघों के आविष्कार के बाद भारतीय कपड़ों की मांग कम होती गई, क्योंकि मशीन से तैयार होनेवाले कपड़ों की तुलना में हाथ के बुने कपड़े महंगे पड़ते थे। यहां तक कि भारत में भी इंग्लैंड के कारखानों में बने हुए कपड़े बिकने लगे। अब पुनः भारत कपड़ा बनानेवाले प्रमुख देशों में से एक हो गया है। अहमदाबाद, बम्बई, ग्वालियर, मद्रास, लुधियाना, दिल्ली, कानपुर आदि नगरों में सूती, रेशमी, ऊनी कपड़े बनाने के बड़े-बड़े कारखाने हैं। इनके अतिरिक्त रेयन और नायलोन आदि रेशों से भी कारखानों में कपड़े बनाए जाते हैं।

(देखें : कताई और बुनाई; वस्त्र)

कपास (COTTON) : कपास के फूल बहुत सुन्दर होते हैं। पर उन्हें सजावट के लिए कोई नहीं तोड़ता। उनके फल बनने दिए जाते हैं। फलों के भीतर बीज होते हैं। उनपर रुई के सफेद रेशे लगे होते हैं। संसार के लगभग तीन-चौथाई मनुष्य रुई के कपड़े पहनते हैं।

रुई की फसल तैयार होने में 200 दिन लगते हैं। यह गर्म जलवायु में उगती है। अमरीका और भारत रुई के सबसे बड़े उत्पादक हैं।

कपास वसंत के आरम्भ में बोई जाती है। उसके पौधे तीन फुट या अधिक ऊंचे हो जाते हैं। प्रत्येक फूल से अंडे के बराबर एक डोडा बनता है। पकने पर यह चटकता है और खुल जाता है। यह बर्फ की गेंद के समान दिखाई देता है।

कपास खेत में से चुन ली जाती है। उसके बीज

कपास का फूल

कपास का डोडा

बिनौले

बिनौले कहलाते हैं। उन्हें ओटकर अलग कर लेते हैं। रुई की गांठें बनाकर कारखानों को भेज दी जाती हैं। बिनौलों का तेल निकाला जाता है। बिनौले पशुओं को भी खिलाए जाते हैं।

महाराष्ट्र, पंजाब, मध्यप्रदेश, मद्रास, उत्तरप्रदेश, आंध्रप्रदेश, राजस्थान और सौराष्ट्र कपास पैदा करने-वाले मुख्य प्रदेश हैं।

इस बड़े बोरे में कोई 45 किलो कपास आती है।

कलम लगाना (GRAFTING) : कलम लगाकर एक ही पेड़ में तीन तरह के सेब उगाए जा सकते हैं। कलम लगाने का मतलब है दो या अधिक पौधों के भागों को इस तरह जोड़ देना कि वे बढ़कर एक ही पौधे की शक्ल धारण कर लें। एक सेब के पौधे के हिस्से को ऊपर से काटकर उसपर दूसरी किस्म के सेब की टहनी की क़लम लगाई जा सकती है। तने की छाल के अन्दर जो परत होती है उसमें वे कोशिकाएं होती हैं जो सजीव होती हैं और उगती हैं। इसलिए कलम लगाते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि जिस पौधे में किसी दूसरे पौधे की कलम लगाई जाए उसके साथ इसके डंठलों की परतों को जुड़ जाना चाहिए।

कलम लगाने के कई तरीके हैं। इनमें से साथ के चित्र में दो तरीके दिखलाए गए हैं। कलम लगाने के बाद ऊपर से मोम की पट्टी लगा दी जाती है जिससे कलम टूटे नहीं।

कलम लगाए गए वृक्षों पर फल जल्दी आते हैं। फलों के वृक्षों के अलावा अंगूर की बेल, गुलाब की झाड़ियों तथा कुछ अन्य फूलों के पेड़ों में भी कलमें लगाई जाती हैं। लेकिन कलमें उन्हीं पौधों की लगती हैं जो काफी

कली की कलम लगाना

तने को काटकर कलम लगाना

समीप की जाति के हों। उदाहरण के लिए अखरोट और गुलाब की कलम नहीं लग सकती। कभी-कभी कलम लगे पौधे का ऊपर का हिस्सा टूट जाता है। तब तने से जो टहनियां निकलती हैं उनपर कलमी पौधे का कोई असर नहीं रह जाता।

(देखें : पौधों की नस्ल सुधारना ; संकर पशु और पौधे)

कसीदा और लैस (EMBROIDERY AND LACE) : मनुष्य की यह प्रवृत्ति है कि वह अपने लिए उपयोगी चीज़ें ही बनाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि उन्हें अधिक सुन्दर बनाने की भी कोशिश करता है। जब उसने बर्तन-भांडे बनाए तो उनके ऊपर चित्र बनाने और पालिश करने की भी कोशिश की। इसी तरह वस्त्र बनाने के साथ उसमें बेल-बूटे काढ़ने, कसीदाकारी करने या गोटा-किनारी लगाने की भी उसने कोशिश की। आज भी हम तकिया, रूमाल, चादर, पहनने के कपड़ों आदि पर कसीदे

और जाली आदि का काम देख सकते हैं।

कसीदे और लैस का चलन बहुत प्राचीन काल से यूरोप और एशिया के अनेक देशों में रहा है। कुछ दिन पहले तक लोग कोट, कमीज़, कुर्ते आदि पर लैस का काम करवाना बहुत पसन्द करते थे। औरतों के कपड़ों में आज भी लैस और कसीदे का प्रचलन पाया जाता है। पहले लैस और कसीदे हाथ से बनाए जाते थे, आज इनके लिए मशीनें भी तैयार हो गई हैं।

आज से 1,500 वर्ष पूर्व मिस्र के लोग कामदार टोपियां पहनते थे। इन टोपियों पर जो लैस या कसीदे कढ़े होते थे, वे आज की तरह नहीं होते थे। आज लैस और कसीदे में कई तरह के धागे काम में आते हैं। पाट, सूत, रेशम, ऊन, सोना, चांदी और रेयन—सभी प्रकार के धागों से लैस और कसीदे तैयार होते हैं।

भारत में कसीदे का चलन सिन्धु घाटी सभ्यता के युग से ही था। यहां की कामदार चीज़ें विदेशों में बहुत समय तक भेजी जाती रहीं। बौद्धकाल से लेकर मुगल-काल तक इस तरह का निर्यात जारी रहा। मेगस्थनीज़
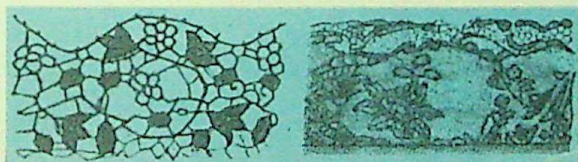
हाथ से काढ़ी गई कुछ सुन्दर और कीमती लैसें

ने भारतीय कसीदों में सोने और रत्नों तक के काम का उल्लेख किया है। आज भी कश्मीर, पंजाब, काठियावाड़, उत्तरप्रदेश, कर्नाटक, आदि में बहुत अच्छे कसीदे निकाले जाते हैं।

लैस दो तरह से तैयार की जाती है। एक तरह की लैस बनाने के लिए धागों को फिरकी या बाबिन पर लपेट लिया जाता है। फिर लैस तैयार करनेवाली औरत कपड़े को सामने रखकर उसपर जो डिज़ाइन तैयार करना चाहती है उसके लिए चारों ओर सुइयां गड़ा लेती है। फिर वह फिरकी को घुमाती हुई सुइयों के आसपास धागे को लपेटती जाती है और इस तरह लैस बुनती है।

क्रोशिया या सुई द्वारा भी लैस तैयार की जाती है। इसमें एक ही धागे से काम चल जाता है। लैस का काम बुनाई द्वारा भी किया जाता है।

कारखाने (FACTORIES) : आज हम जो चीज़ें खरीदते हैं उनमें से अधिकांश कारखानों में बनी होती हैं। कारखानों में बनी हुई चीज़ों की संख्या इतनी अधिक है कि हाथ से बनी चीज़ें खरीदना आजकल रईसी समझा जाता है।

कारखानों की कहानी ज़्यादा पुरानी नहीं है। कोई

EXPRESS
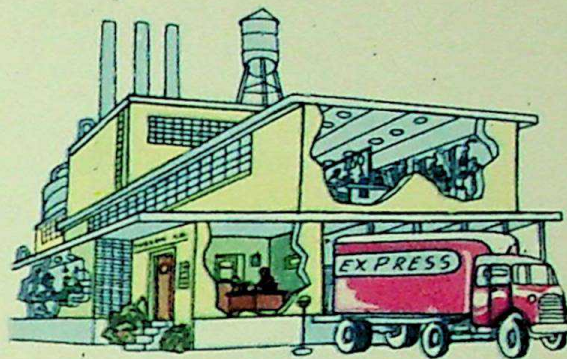
एक आधुनिक कारखाना

200 साल पहले तक लगभग प्रत्येक चीज़ घर पर ही बनती थी। हर कारीगर के पास अपने-अपने औज़ार होते थे। तब भाप के इंजन का आविष्कार हुआ। फिर धीरे-धीरे भाप से चलनेवाली मशीनें बनने लगीं। इसके बाद जहां मज़दूर और मशीनें एक साथ उपलब्ध हो सकती थीं वहां कारखाने खड़े होने लगे।

शुरू-शुरू में लगभग सारी मशीनों का आविष्कार ब्रिटेन में हुआ। इन आविष्कारों का रहस्य गोपनीय रहने के कारण ब्रिटेन की तुलना में दूसरे देशों में कारखाने बहुत दिन बाद पनपने शुरू हुए। आरम्भ के दिनों में कारखानों का जीवन नारकीय था। कारखाने के भारी-भरकम काम के लिए सुकुमार बच्चों को भी मज़दूरी पर रख लिया जाता था। मज़दूरों को ज़्यादा घंटे काम करना पड़ता था और उनकी जान अक्सर खतरे में रहती थी। कमरे अंधेरे और बन्द थे।

लेकिन अब पूरी तस्वीर ही बदल गई है। कुछ देशों में बच्चों को कारखाने के काम में मज़दूरी पर रखना
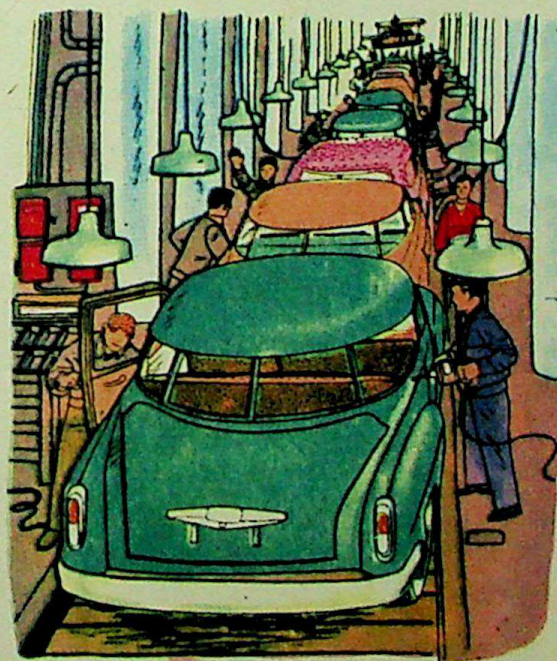
मोटरकारों का कारखाना

कानूनन मना है। आजकल मज़दूरों के स्वास्थ्य पर पूरा ध्यान दिया जाता है। अच्छे कारखानों में उनके मनोरंजन का भी प्रबन्ध रहता है।

नगरों के विकास में कारखानों का बड़ा हाथ है। पहले शहरों के कारखानों वाले भाग गंदगी और धुएं से भरे रहते थे। मगर अब ऐसा नहीं है। अब कारखानों की इमारत आदि के निर्माण पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता है। आजकल अधिकांश कारखाने बिजली से चलते हैं। इसलिए धुएं की समस्या भी काफी हद तक सुलझ गई है। कई आधुनिक कारखानों में कर्मचारियों के लिए सुन्दर लॉन, बगीचे और खेल के मैदान भी बनवाए जाते हैं।

भारत एक कृषिप्रधान देश है, लेकिन स्वाधीनता के बाद यहां उद्योग-धंधों के विकास पर बहुत बल दिया गया है। बहुत-से कारखानों का नियंत्रण सरकार के हाथों में है, लेकिन अधिकांश कारखानों पर उद्योगपतियों का अधिकार है। एक ज़माना था जब भारतवर्ष में कपड़ा सीने की सुई भी बाहर से आती थी। लेकिन अब भारत अपने कारखानों में तैयार हुए माल को काफी बड़ी मात्रा में निर्यात भी करता है। (देखें : औद्योगिक क्रान्ति)

कालीन और दरी (CARPETS AND RUGS) :

पहले-पहल कालीन किसी जानवर की खाल के रहे होंगे। पूरे फर्श को ढकने के लिए यदि किसी बिछावन का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ होगा, तो सम्भवतः वह सूखी घास या पत्तियों का रहा होगा। उसके प्रयोग का कारण यह रहा होगा कि वह गुफाओं या झोंपड़ियों के नंगे फर्श की अपेक्षा अधिक गर्म और मुलायम प्रतीत हुआ होगा।

फर्श के लिए बिछावन की बुनाई आज से लगभग 2,000 वर्ष पहले प्रारंभ हुई। किसीको ठीक पता नहीं कि यह बुनाई कब और कहां प्रारंभ हुई। सम्भवतः इसकी शुरूआत पहले भारत में या इसके ही किसी आसपास के देश में हुई।

दरी बनाने की कहानी का जितना ज्ञान हमें है, उसमें दरियां सदा से करघों द्वारा ही बनती रही हैं। साथ के चित्र में एक दरी बनानेवाली को काम करते दिखाया गया है।

दरी तैयार करने के लिए, लम्बे और मज़बूत धागों को करघे पर नीचे से ऊपर को तान लेते हैं। इन्हें ताना कहते हैं। ये ताने सूत, ऊन, लिनन, जूट या किसी दूसरी चीज़ के रेशों के हो सकते हैं। इनके आर-पार दूसरे धागों से किसी विशेष नमूने की बुनाई होती है। इन्हें बाना कहते हैं। जब दरी तैयार हो जाती है तो केवल उसके बाने ही हमें दिखाई देते हैं। ताने इनके भीतर ही छिपे

आधुनिक कालीन की बुनाई

एक्समिंस्टर

एक्समिंस्टर कालीन में उठे हुए रोएं नीचे से बंधे होते हैं। ये कई रंगों के हो सकते हैं।

विल्टन कालीन में सतह के नीचे कई धागे होते हैं। डिज़ाइन बनाने के लिए विभिन्न रंगों के धागों को ऊपर खींच लिया जाता है।

मखमली कालीन में ताने के मज़बूत धागों में बाने के फंदे बुने जाते हैं और फिर इन फंदों के सिरों को काट दिया जाता है।

विल्टन

मखमली

एक प्राचीन ईरानी कालीन

एक रेड इंडियन स्त्री दरी बुन रही है।

रह जाते हैं। बाने ऊन, सूत, रेशम और रेयन के हो सकते हैं।

सबसे पहले कालीन हाथ से बनते थे। आज भी सर्वोत्तम कालीन हाथ से ही बुने जाते हैं। सैकड़ों वर्षों से सबसे अच्छे कालीन एशिया के कुछ भागों में ही तैयार होते आए हैं।

कालीनों की बुनाई इस प्रकार होती है : कालीन बनानेवाला तानों को करघे पर चढ़ा लेता है। फिर वह बाने में छोटे-छोटे फुंदनों की गांठें लगाता जाता है। वह दो बाने चलाता है। इसके बाद वह इन्हें दबाकर नीचे कर देता है। फिर वह फुंदनों की दूसरी पंक्ति चलाता है। इस तरह वह तब तक करता जाता है, जब तक कालीन पूरा तैयार नहीं हो जाता। वह अलग-अलग रंगों के फुंदने लगाता हुआ, अपने नमूने तैयार करता है।

एशियाई देशों के कुछ बहुत उत्तम प्रकार के कालीनों में एक वर्गइंच में 1,000 तक गांठें लगाई जाती हैं। आमतौर पर 400 से अधिक गांठें नहीं लगतीं। कुछ कालीनों के तैयार करने में वर्षों लग जाते हैं। एशियाई देशों के कालीनों की सुन्दरता का रहस्य है, इनमें प्रयोग में आनेवाले रंग। इनमें कुछ के नमूने भी बहुत सुन्दर होते हैं। ये नमूने परम्परागत हैं। हर कालीन बनानेवाले परिवार के कुछ अपने नमूने हैं।

आजकल कालीन और दरियां मशीनों से भी तैयार होती हैं। इनमें फुंदनों के धागे की बुनाई अनेक तरह से की जाती है। कुछ कालीनों में बाने के धागों के फन्दे बने रहते हैं। कुछ दूसरों में इन फन्दों को काटकर समतल बना दिया जाता है।

कीलें (NAILS) : सन् 1786 से पूर्व कीलें हाथ से बनाई जाती थीं। 1786 में कील बनाने की मशीन का आविष्कार हुआ। अब ऐसी मशीनें बन गई हैं जो एक मिनट में 1000 कीलें बना सकती हैं। इन मशीनों में तार डाल दें तो जैसी कीलें बनानी हों ठीक उसी लंबाई के टुकड़े कट जाते
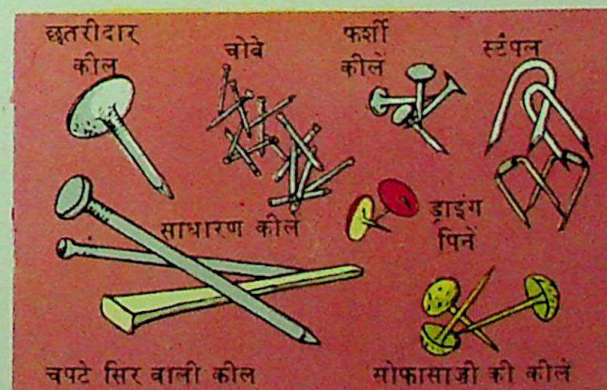
हैं। इन टुकड़ों को तपाया जाता है। तप जाने पर प्रत्येक के सिरे को पीटकर चपटा बना दिया जाता है। दूसरा सिरा नोकीला बनाया जाता है। फिर कीलों पर पालिश की जाती है।

मशीनी कीलें मुख्यतः इस्पात की बनती हैं। किन्तु कीलें लोहे, तांबे, पीतल और एल्युमिनियम की भी होती हैं। कीलें कई नापों और कई शक्लों की होती हैं।

कुआं (WELL) : जल प्राप्त करने के लिए बनाए गए कुएं प्रायः सभीने देखे होंगे। नगरों में प्रयुक्त किया जानेवाला जल नलों से आता है, परन्तु ग्रामों में कुएं ही जल-प्राप्ति का साधन हैं। लेकिन कुएं पेट्रोल निकालने के लिए भी खोदे जाते हैं।

ये कुएं धरती में खोदे जाते हैं। कुछ कुएं उथले होते हैं, कुछ गहरे। उथले कुओं से पानी साफ नहीं निकलता, क्योंकि उसमें धरती पर बहनेवाले नदी-नालों की गन्दगी जज़्ब होती रहती है। साफ पानी के लिए गहरे कुएं ही अच्छे माने जाते हैं। ये प्रायः 50 से 100 फुट तक गहरे होते हैं।

परन्तु अधिक मात्रा में जल प्राप्त करने के लिए कुएं और भी अधिक गहरे खोदे जाते हैं। इनकी गहराई 150 से 800 फुट तक होती है। कुछ स्थानों पर तो 5-6 हज़ार फुट तक गहरे कुएं भी खोदे गए हैं। इनसे कई लाख गैलन जल प्रतिदिन प्राप्त किया जाता है।

कुओं का आकार प्रायः गोल होता है, परन्तु अन्य आकारों में भी इन्हें बनाया जाता है। ये चौकोर तथा अष्ट-भुजीय भी हो सकते हैं। परन्तु गोल कुआं ही मज़बूत होता है और उसे बनाने में भी आसानी होती है। कुछ कुएं कच्चे ही छोड़ दिए जाते हैं, कुछ में ईंटों और कंक्रीट की पक्की चुनाई की जाती है। जिन स्थानों में भूचाल बहुत आते हैं वहां पक्के कुएं बनाना ही उपयोगी होता है।

केसर (SAFFRON) : केसर एक पौधा होता है जिसकी कुक्षियों को सुखाकर खाद्य-पदार्थों को रंग और स्वाद देने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। भारत में यह पौधा जम्मू तथा कश्मीर में ही उगता है। इसके अतिरिक्त इसकी खेती चीन, ईरान, तुर्की, ग्रीस, इटली तथा स्पेन में भी होती है।

केसर का पौधा 20 सेंटीमीटर के लगभग ऊंचा होता है। इसकी पत्तियां संकरी, लम्बी तथा नालीदार होती हैं। इनके बीच फूल होते हैं जिनमें केसर की नलियां होती हैं। केसर का पौधा अगस्त-सितम्बर में बोया जाता है और अक्तूबर-नवम्बर में खिलता है।

केसर की गंध तीखी और स्वाद भी कुछ तीखा होता है। यह बहुत महंगा बिकता है और प्रायः शुद्ध भी नहीं मिलता।

कैलिको (CALICO) : साधारण सूती कपड़ा ही कैलिको है, परन्तु इसका यह नाम एक विशेष कारण से पड़ा। भारत में बना जो कपड़ा विलायत जाता था, वह कालि-कट में बनता था। कुछ समय बाद हर सूती कपड़े को कैलिको कहने लगे।

परन्तु बनावट की दृष्टि से कैलिको अन्य प्रकार के कपड़ों से भिन्न होता है। इसमें बाने का प्रत्येक धागा ताने के धागों के ऊपर चढ़कर और नीचे से होकर पार जाता है। 'ट्विल' आदि अन्य कपड़ों में ये धागे अन्य ढंगों से उतरते-चढ़ते हैं।

कैलिको कपड़ा बहुत साधारण से लेकर—जैसे मार-कीन, बहुत अच्छा जैसे मलमल, तक हो सकता है। इसमें ताने और बाने के धागे एक ही मोटाई के होते हैं। यदि बाने को ताने की अपेक्षा मोटा कर दें तो 'पॉपलिन' बन जाती है, जिसका उपयोग कमीज़ें बनाने में किया जाता है। इसी तरह यदि ताने को बाने की तुलना में मोटा कर दें तो 'रेप्प' नामक कपड़ा बन जाता है, जिसका प्रयोग गद्दे तथा पर्दे बनाने में किया जाता है।

पटरी पर लगा एक बाज़ार

क्रय-विक्रय (MARKETING) : दूकानों से हम अनेक तरह की चीज़ें खरीदते हैं। लेकिन दूकानदार इन चीज़ों को खुद दूसरों से खरीदकर रखता है। अगर हमें हर चीज़ उसे पैदा करनेवाले से ही खरीदनी पड़ती तो हम अपनी ज़रूरत की चीज़ें जुटा नहीं सकते थे। जिस तरीके से दुनिया की तमाम चीज़ें लोगों तक पहुंचाई जाती हैं उसे क्रय-विक्रय कहते हैं। इसका विकास दुनिया के व्यापार की वृद्धि के साथ निरन्तर होता आया है।

पंसारी की दूकान और ऐसी ही दूसरी अनेक दूकानें जिन्हें हम बाज़ार में देखते हैं, फुटकर दूकानें कहलाती हैं। फुटकर दूकानदार अपना सामान थोक दूकानों से खरीदते हैं। किसान अपना अनाज, सब्ज़ियां, फल आदि और कारखाने अपनी तैयार की हुई चीज़ें थोक विक्रेताओं को

थोक दूकान
बाजार के लिए पैक करना
मक्का का खेत
भुट्टे चुनना
फुटकर दूकान में बिक्री

बेच देते हैं। इससे उनको दूकान-दूकान फेरी लगाने में अपना समय गंवाना नहीं पड़ता।

कुछ प्रकार के फुटकर विक्रेता अपनी चीज़ें सीधे उन स्थानों से खरीदते हैं जहां वे बनती हैं। उदाहरण के लिए, मोटर गाड़ियों के विक्रेता गाड़ियां उन कंपनियों से खरीदते हैं जहां ये बनती हैं।

कुछ दूकानें शृंखलाबद्ध होती हैं। ये एक ही कम्पनी द्वारा चलाई जाती हैं। हर शहर में उस कम्पनी की दूकानें होती हैं। बाटा कम्पनी के जूते, दिल्ली क्लाथ मिल और लाल इमली मिल के कपड़े, आदि ऐसी ही दूकानों पर बिकते हैं। इस तरह इनका मूल्य हर जगह एक-जैसा होता है।

भारत में आजकल सहकारी दूकानें भी खुली हैं, जहां खरीदार खुद हिस्सेदार बनकर बिक्री पर हुए लाभ से फायदा उठा सकते हैं।

(देखें : डिपार्टमेंट स्टोर ; व्यापार)

क्रेन (CRANE) : भारी वस्तुओं को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर ले जाने की समस्या बहुत पुरानी है। पहले इसके लिए मनुष्यों की सम्मिलित शक्ति का प्रयोग किया जाता था, परन्तु अब एक विशेष प्रकार की मशीन का प्रयोग किया जाता है, जिसे क्रेन कहते हैं।

हज़ारों साल पहले जब मिस्र में पिरामिड बनाए गए, तब सैकड़ों-हज़ारों मज़दूर मिलकर बड़े-बड़े पत्थरों को खींचते थे। इसमें समय भी बहुत लगता था। परन्तु अब क्रेन की सहायता से बड़े से बड़ा पत्थर, मशीनें तथा अन्य भारी वस्तुएं कुछेक घंटों में ही यथास्थान पहुंचा दी जाती हैं। सभी कारखानों में इसका उपयोग आवश्यक हो गया है।

क्रेन दो प्रकार के होते हैं। कुछ अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं और कुछ इच्छानुसार चलाए-फिराए जा सकते हैं। इसी प्रकार कुछ क्रेन वस्तु को ऊपर उठाकर एक ही

बाजार से खरीदी गई
मक्का का घर में उपभोग
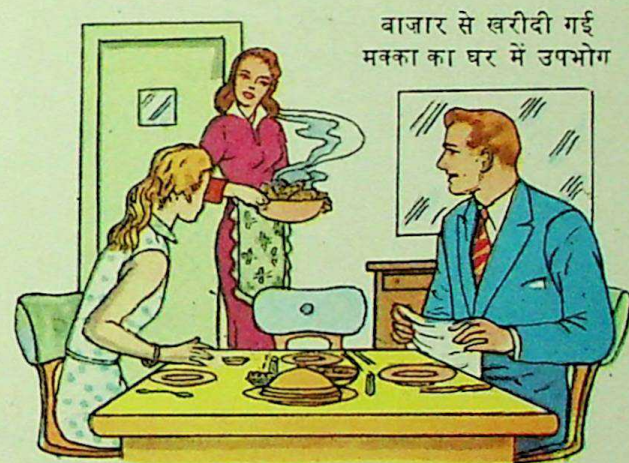
स्थान पर रख सकने में समर्थ होते हैं, और कुछ उन्हें इच्छानुसार घुमा-फिराकर जहां चाहें रख सकते हैं। विविध उपयोगों के अनुसार इनकी बनावट भी भिन्न होती है।

क्रेनों को चलाने के उपाय भी विविध हैं। छोटी और कम भारी वस्तुओं को उठानेवाले क्रेन हाथ से चलाए जाते हैं। बड़े क्रेन पहले भाप से चलाए जाते थे, अब बिजली से चलाए जाते हैं। कुछ क्रेन हाइड्रॉलिक शक्ति से चलाए जाते हैं।

क्रेन का पहला काम वस्तु को ऊपर उठाना है। इसके लिए उसमें एक कांटा लगा होता है। जिस स्थान पर वस्तु रखी होती है, वहां तक क्रेन की छड़ को घुमाकर पहुंचाया जाता है और वस्तु को कांटे में अटका लिया जाता है। फिर यह छड़ ऊपर उठती है। जब यह पर्याप्त ऊपर उठ जाती है, तब इसे घुमाकर उस स्थान पर ले जाते हैं जहां वस्तु को रखना होता है। फिर इसे बड़ी सावधानी से नीचे उतारा जाता है। जब वस्तु नीचे आ जाती है तो उसे कांटे से निकाल लिया जाता है। कुछ क्रेनों में कांटे के स्थान पर चुम्बक का प्रयोग होता है।

सभी क्रेनों में बहुत अच्छे ब्रेक भी लगे होते हैं, जिससे आवश्यकता पड़ने पर क्रेन को कहीं भी रोका जा सकता है।

खाद और उर्वरक (MANURES AND FERTILIZERS) : खेतों में जो उपज होती है वह सदा समान रूप से उत्तम नहीं होती। कुछ फसलें पैदा करने के बाद यह उपज घट जाती है, क्योंकि मिट्टी की उत्पादन-शक्ति पहले से कम हो जाती है। इस शक्ति को पहले के स्तर पर लाने तथा सामान्य से अधिक करने के लिए खाद या उर्वरक का प्रयोग करना होता है।

संसार के सभी देशों में बहुत प्राचीन काल से खाद का उपयोग किया जाता रहा है। यह खाद गाय के गोबर, विभिन्न प्रकार के कूड़े-कर्कट, हड्डियों, चूना पत्थर तथा मछलियों की बनती थी। भारत में गोबर की खाद का विशेष प्रयोग होता रहा है। परन्तु अब विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों की खाद का उपयोग किया जाता है, जिन्हें उर्वरक कहते हैं। उर्वरक कारखानों में बनते हैं और पिसी हुई सफेद मिट्टी-से होते हैं। भारत में सिंदरी तथा नंगल के कारखाने उर्वरक बनाने के लिए प्रसिद्ध हैं।

खाद के प्रयोग का एक कारण यह भी है कि पौधों की वृद्धि के लिए जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, वे सब उन्हें वायु, जल और मिट्टी से प्राप्त नहीं होते। ये तत्त्व हैं पोटाशियम, नाइट्रोजन और फ़ॉसफ़ोरस। इसलिए ये इन्हें बाहर से खाद तथा उर्वरक के द्वारा दिए जाते हैं।

एक टन गोबर की खाद से लगभग 10 से 15 पौंड तक नाइट्रोजन तथा 5 पौंड फ़ॉसफ़ोरस प्राप्त होता है। पशुओं के मूत्र से भी नाइट्रोजन प्राप्त होता है। जो उर्वरक कारखानों में बनाए जाते हैं, उनमें ये वस्तुएं उचित मात्रा में होती हैं।

अक्सर यह पूछा जाता है कि पुराने ढंग की खाद अच्छी है अथवा नये ढंग के उर्वरक। अनपढ़ किसानों के लिए खाद ही अच्छी मानी जाती है, क्योंकि उर्वरक के प्रयोग में कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। उर्वरक के लगातार प्रयोग से कुछ हानि भी होती देखी गई है।

साधारणतया तीसरे या चौथे वर्ष खेतों में खाद डाली जाती है। विशेष स्थितियों में प्रति वर्ष भी डाली जाती है।

खादी (KHADI) : कपड़ा कई ढंग से तैयार किया जाता है। एक ढंग यह है कि हाथ से सूत कातकर करघे पर बुना जाए, दूसरा यह है कि मशीन से ही सूत काता जाए और मशीन पर ही बुना जाए। पहले ढंग से तैयार किए गए कपड़े को खादी कहते हैं।

भारत में खादी बड़े प्राचीन काल से बुनी जाती रही है, परन्तु उसे विशेष महत्ता महात्मा गांधी ने दी। स्वाधीनता आन्दोलन के ज़माने में देश को आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से उन्होंने खादी तैयार करने और पहनने पर विशेष ज़ोर दिया। उन्होंने चरखा संघ बनाया और प्रत्येक कांग्रेसी के लिए चरखा कातना और खादी पहनना अनिवार्य कर दिया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सरकार ने खादी ग्रामोद्योग संघ बनाकर इसे विशेष रूप से संगठित किया। आजकल प्रति वर्ष लगभग 16 करोड़ रुपये की खादी तैयार होती है और लगभग 12 लाख व्यक्ति इस काम में लगे हैं। परन्तु खादी का प्रचार अब कम हो गया है और थोड़े लोग ही उसे पहनते हैं।

खान और खान खोदना (MINES AND MINING) : यह पृथ्वी सम्पत्तियों का एक बड़ा भंडार है। इससे अनेक प्रकार के बहुमूल्य खनिज निकलते हैं। ये खनिज अनेक विभिन्न विधियों से धरती से निकाले जाते हैं। इसे खान खोदना या 'खनन' कहते हैं।

नदी की रेत में सोने की खोज

खनिज कैसे खोदे जाते हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि धरती में खनिज कहां हैं। वे खुली रेत या कंकरियों में भी बिखरे मिलते हैं। वे धरातल के निकट ठोस परतों मे भी हो सकते हैं और नीचे अधिक गहराई में भी। वे शिलाओं के मध्य धारियों के रूप में कटे-फटे भी मिल सकते हैं।

कुछ प्रकार के खननों में पानी बड़ा सहायक होता है। उदाहरण के लिए सोना खोदनेवाला व्यक्ति स्वर्णकणों से युक्त कंकरी को कढ़ाई में भर लेता है। वह तब तक कंकरी को धोता है जब तक कि केवल सोना न बच जाए। कंकरी के अन्य पदार्थों से सोना कहीं अधिक भारी होता है।

कई बार अभीष्ट खनिज से मिश्रित कंकरी की परतों पर पानी की मोटी-मोटी धाराएं छोड़ी जाती हैं। शेष

कंकरी के घुल जाने पर खनिज बच रहता है। प्रायः टीन, प्लैटिनम और क्रोमियम इसी प्रकार निकाला जाता है।

धरातल के नीचे गहराई में स्थित लवण शिलाओं से नमक प्राप्त करने के लिए नलों के द्वारा पानी नीचे भेजा जाता है। उसमें कुछ नमक घुल जाता है। फिर वह नमक घुला पानी ऊपर पहुंचा दिया जाता है। पानी सुखा दिया जाता है और पीछे बच रहता है नमक।

इसी प्रकार धरती में गहराई पर मिलनेवाला गन्धक गर्म पानी से निकाला जाता है। कुछ अवस्थाओं में खनन का मतलब होता है, पृथ्वी की सतह से खनिज का केवलमात्र खुरच लेना। बहुधा कच्चा तांबा और कच्चा लोहा इसी विधि से निकाला जाता है।

कहीं-कहीं कोयला भी इसी विधि से निकाला जाता है। कोयले की परतों पर जमी मिट्टी को खुरचकर अलग कर दिया जाता है। तब कोयला खुरचने की बारी आती है। कभी-कभी किसी पहाड़ी की बगल में खनिज अपने आप सतह पर आ जाता है। ऐसी स्थिति में सुरंगें खोदकर कोयला आदि ट्रकों में भरकर बाहर निकाला जाता है।

यदि खनिज धरती में बहुत गहराई पर हो तो खनिज तक खोद-खोदकर एक रास्ता निकाल लिया जाता है, फिर खानमार्ग (Shaft) के तलभाग से बाहर तक सुरंगें निकाली जाती हैं। दुनिया का अधिकतर कोयला खानमार्ग की विधि से ही निकाला जाता है। यही हाल सोने, सीसे, निकल और चांदी का है। कई खानों में चारों ओर इतनी दूर-दूर तक सुरंगें फैल जाती हैं कि वे एक भूमिगत नगरी के समान दिखाई देती हैं। निकल, सोने और हीरे की खानें तो असाधारण रूप से गहरी होती हैं। दक्षिणी अफ्रीका में सोने की एक खान लगभग दो मील गहरी है।

कोयले की खान में वायु-परीक्षण

धरती की गहराई में खनन एक खतरनाक व्यवसाय है। इसमें भीतरी कन्दराओं का, विषैली गैसों का और ताप में झुलस जाने का सदा भय बना रहता है। इन खतरों को कम करने के लिए अब गहरी खानों में शीतन व्यवस्था के अतिरिक्त अधिकांश कठोर और खतरनाक काम मशीनों से होने लगा है।

खनन कोई नया व्यवसाय नहीं है। लगभग 5,000 वर्ष पहले भी मिस्री लोग खानों से सोना और तांबा निकाला करते थे। यूनानी लोग चांदी और सीसा तथा फ़ीनीशि-याई लोग टीन निकालना जानते थे।

शताब्दियों तक जो खनन होता रहा उसमें बहुत-सा
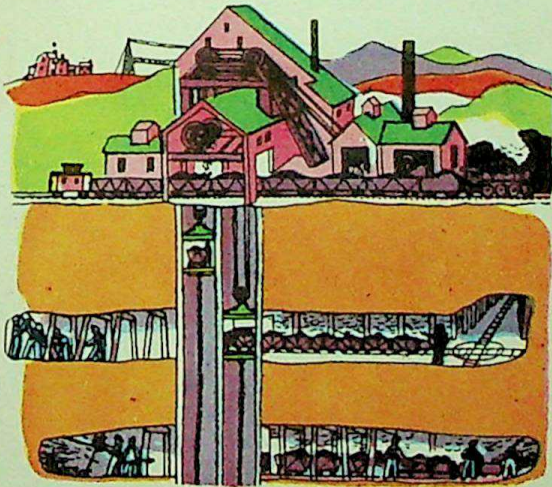
खननमार्ग वाली खान में विविध स्तरों से लिफ्टों द्वारा कोयला ऊपर पहुंचाया जाता है, जहां उसके लिए गाड़ियां तैयार खड़ी रहती हैं।

खुली खान से खुरचकर खनिज वहां निकाला जाता है जहां वह ऊपरी सतह के बिलकुल पास हो।

कठपुतली भूसे की गुड़िया रेलगाड़ी लकड़ी का घोड़ा

बिजली की रेलगाड़ी

बैल के सींग से बना भोंपू
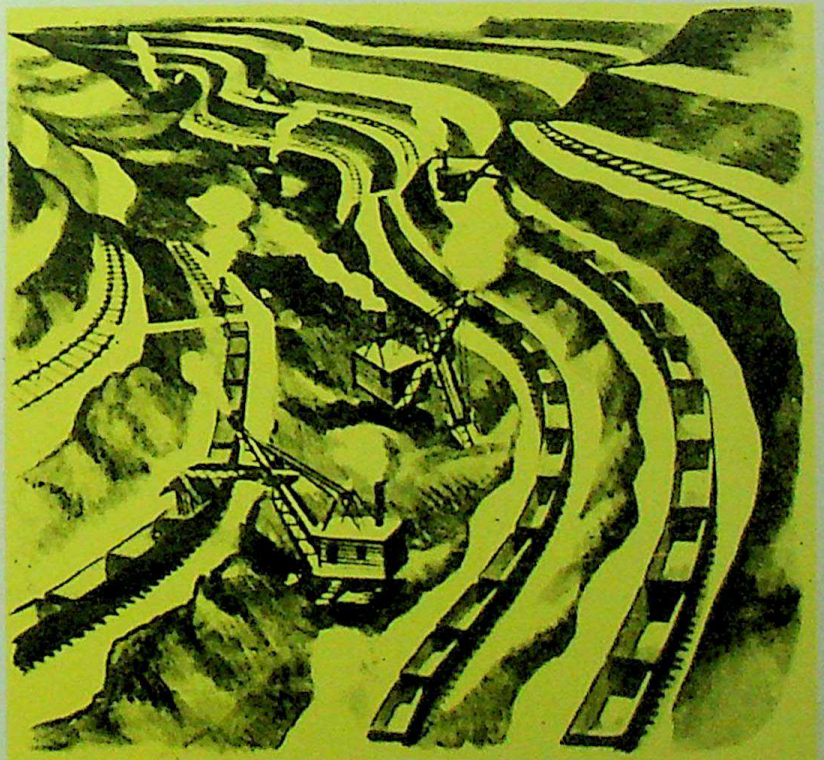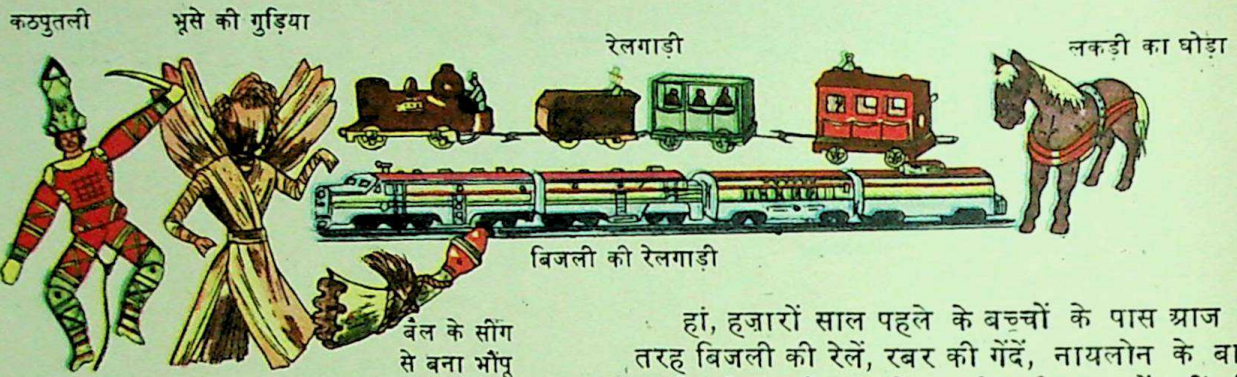
अंश व्यर्थ चला जाता था। विशेषकर कोयले की खानों में जहां पहुंचना सरल होता था वहां पहले खनन कर लिया जाता था। इस प्रकार उन लोगों ने ऊपर-ऊपर की श्रेष्ठ-तम परतें खोद लीं। इसीलिए अब कोयले की खानें बहुत गहरी बनानी पड़ी हैं।

घूमती हुई बड़ी-बड़ी अनेकों गरारियों को देखकर दूर से ही कोयले की खान को पहचानना कठिन नहीं है। चोटी पर एक बड़ा पहिया होता है जिससे तारों के सहारे 'पिंजरे' नीचे भेजे जाते हैं। जहां खानें बहुत गहरी होती हैं वहां खनक लोग भूमिगत रेलगाड़ी द्वारा नीचे-ऊपर आते-जाते हैं।

खान-मजदूर नीचे उतरने को तैयार

खिलौने (TOYS) : हज़ारों साल पहले के बच्चे भी खिलौनों से खेलते थे। आज से कई हज़ार वर्ष पहले मिस्र और बेबीलोनिया के बच्चों के पास खेलने के लिए खिलौने थे। अजायबघरों में उन दिनों के बहुत-से झुनझुने, गुड़ियां, गेंदें, जानवर और गाड़ियां आदि खिलौने आज भी देखने को मिल सकते हैं। ये खिलौने पुराने गांवों और शहरों के खंडहरों में से मिले हैं। पुराने ज़माने की कुछ चाभी से चलनेवाली गुड़ियां वगैरह भी प्राप्त हुई हैं।

हां, हज़ारों साल पहले के बच्चों के पास आज की तरह बिजली की रेलें, रबर की गेंदें, नायलोन के बालों वाली गुड़ियां और प्लास्टिक की बनी इमारतें नहीं थीं। तब अधिकतर खिलौने पकाई हुई मिट्टी, कांसे या लकड़ी से बनाए जाते थे।

जर्मनी अपने खिलौनों के लिए बहुत दिनों से प्रसिद्ध रहा है। पेड़ों की बहुतायत होने के कारण जर्मनी में शुरू के दिनों में खिलौने अधिकतर काठ के ही बनते थे। आजकल जापान अपने खिलौनों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। भारत में भी अब बढ़िया-बढ़िया खिलौने बनने लगे हैं। कुछ लोग समझते हैं कि खिलौने खरीदना पैसे की और उनसे खेलना समय की बर्बादी है। यह सोचना गलत है। बच्चों के लिए खेलना अच्छा रहता है और खेल खिलौनों से ही होता है। खिलौनों से बच्चों का मन तो बहलता ही है, वे कुछ सीखते भी हैं। खिलौनों से खेलने से बालकों के हाथ में सफाई आती है। कुछ खिलौने ऐसे होते हैं जिनसे खेल-खेल में बच्चे विज्ञान की बहुत-सी बातें सीख जाते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि खिलौनों से खेलने में बच्चों को अपनी कल्पना-शक्ति का प्रयोग करने का मौका मिलता है। (देखें : गुड़िया)

खेती की मशीनें (FARM MACHINERY) : आज से पचास वर्ष पहले यूरोप और उत्तरी अमरीका में खेतिहर लोगों की संख्या आज से कहीं अधिक थी। लेकिन जहां तक अनाज की उपज का सम्बन्ध है, इन प्रदेशों में पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक उपज होती है। यह कैसे संभव हुआ? इस चमत्कार में खेती की मशीनों का बहुत बड़ा हाथ है। पचास साल पहले के किसान अपनी ज़रूरत-भर का अनाज ही मुश्किल से पैदा कर पाते थे, जबकि कनाडा और आस्ट्रेलिया के विशाल खेतों में मशीनों की मदद से भारी मात्रा में पैदा होनेवाला गेहूं आज दूर-दूर के देशों को निर्यात किया जाता है।

पहले किसान पांचा, हल और दरांती आदि औज़ारों का इस्तेमाल करते थे। आज की मशीनों की तुलना में ये औज़ार सादा थे। खेती के इतिहास में जुताई, गुड़ाई आदि कामों में घोड़ों और बैलों का प्रयोग एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटना है। उन्नीसवीं सदी में खेती की बहुत-सी नई मशीनों का आविष्कार हुआ। भाप के इंजन का

खेती की आधुनिक मशीनें

तवेदार हैरो

ट्रैक्टर हल

बीज और खाद डालने की मशीन

कमानीदार हैरो

स्वचालित पिक-अप बेलर

दांतेदार हैरो

फार्म वैगन

खाद डालने की मशीन

हारवेस्टर कम्बाइन
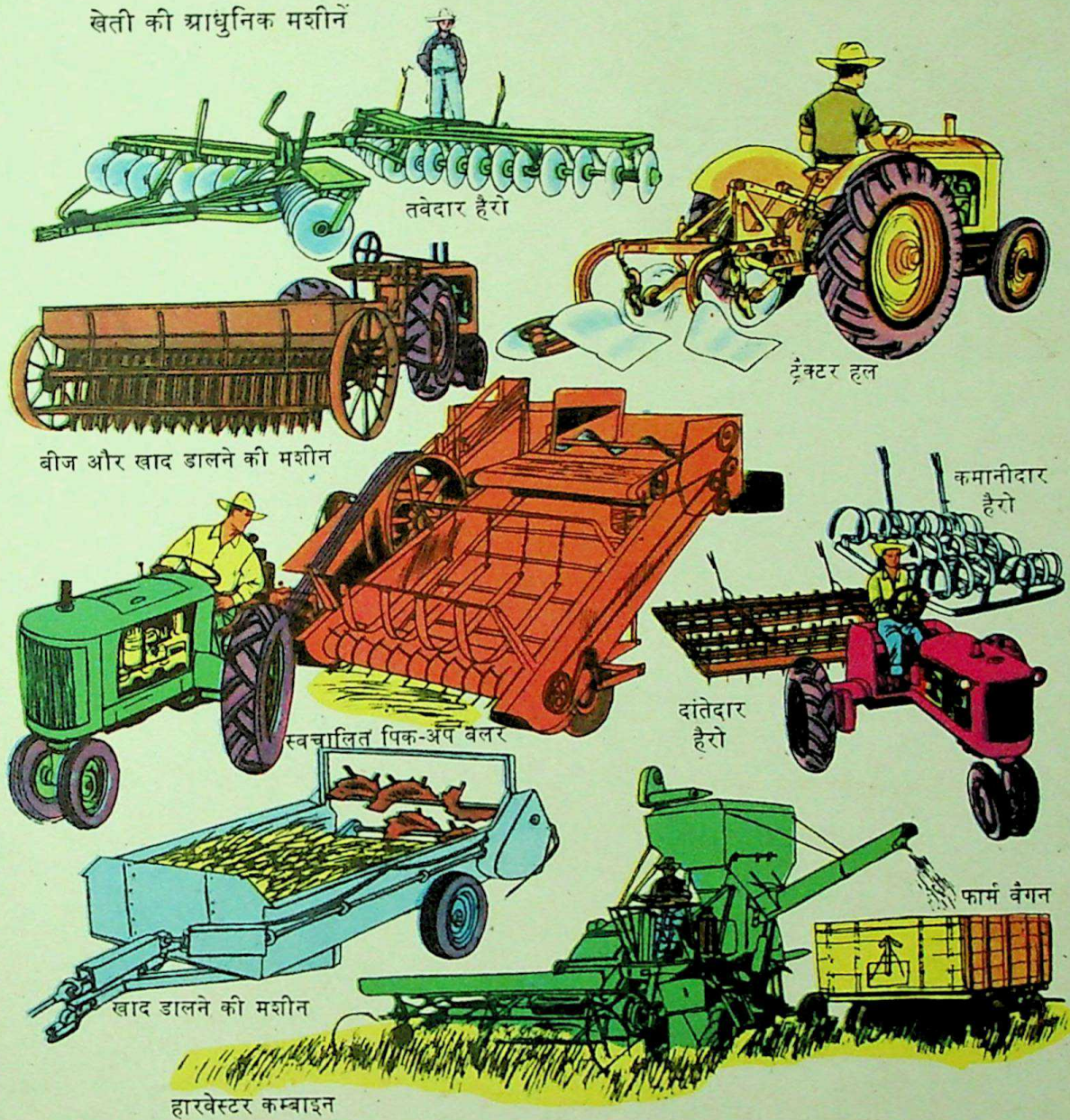
आविष्कार हो जाने के बाद खेती की मशीनें भी उससे चलाई जाने लगीं।

धीरे-धीरे घोड़ों और भाप के इंजनों का स्थान आधुनिक ट्रैक्टरों ने ले लिया। अब ट्रैक्टरों की मदद से बड़े-बड़े हल और दूसरी कई मशीनें चलाई जा सकती हैं। आजकल बहुत-से खेतों में बिजली से भी काम लिया जाता है। बिजली से गाय-भैंसों का दूध दुहा जाता है और कई तरह के पम्प आदि चलाए जाते हैं। मशीनों ने किसानों के काम को बड़ा आसान बना दिया है।

खेती-बारी (FARMING) : कई हज़ार वर्षों तक आदमी भोजन की तलाश में जंगलों की खाक छानता फिरा है। वह जंगली जानवरों को मारकर, कंद-मूल खोदकर और जंगली पेड़ों से पत्तियां, बीज तथा फल लेकर अपनी उदर-पूर्ति करता रहा है। विश्व-इतिहास में सबसे बड़ा आविष्कार यह है कि मनुष्य ने बीजों से पौधे उगाना सीखा। इस आविष्कार से लोगों का जीवन ही बदल गया। अब लोगों ने भोजन के लिए मारे-मारे फिरना छोड़ दिया, क्योंकि शिकार के मुकाबले खेती-बारी से भोजन कहीं आसानी से मिल सकता था।

खेती-बारी शुरू कैसे हुई—इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। शायद ऐसा हुआ हो कि किसीने खाने के लिए कुछ बीज इकट्ठे करके रख दिए हों। संयोग से उनमें मिट्टी पड़ गई हो और अंकुर फूट
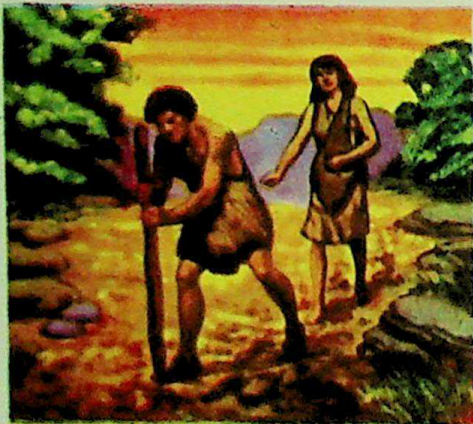
आरंभ में खेत लकड़ी से जोते जाते थे।

निकले हों। शुरू-शुरू में लोगों ने अनाज वगैरह की ही खेती की ताकि भोजन की समस्या हल हो सके। बाद को सन वगैरह की खेती भी की जाने लगी और कपड़े की समस्या भी हल कर ली गई। धीरे-धीरे लोग दूध, गोश्त और खालों के लिए पशुओं को पालतू बनाना सीख गए और खेती के साथ पशु-पालन भी चल निकला।

शुरू-शुरू में किसानों के पास ज़मीन खोदने के लिए मुड़ी हुई लकड़ियां और फसल काटने के लिए पत्थर के हंसिये थे। मध्य अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के घने जंगलों में रहनेवाले कुछ असभ्य कबीलों में आज भी हज़ारों बरस पुराने ढंग से ही खेती-बारी की जाती है।

लेकिन दुनिया के बहुत-से भागों में आजकल मशीनों से खेती की जाती है। नई-नई मशीनों, उम्दा किस्म के बीजों और वैज्ञानिक तरीकों से प्रति एकड़ कृषि-उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

खेती के पुराने तरीकों के कारण लाखों-करोड़ों एकड़ ज़मीन खेती के अयोग्य हो गई थी। अब दलदलों को सुखाकर और उचित ढंग से सिंचाई करके बेकार ज़मीन को फिर से खेती के काबिल बनाया जा रहा है। सिंचाई की एक ही सफल योजना ने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश के एक बहुत बड़े बंजर हिस्से को लहलहाते खेतों में बदल दिया है।

सुयोग्य और सफल किसान को बहुत-कुछ जानना होता है। उसे अपने फार्म की ज़मीन और अपने प्रदेश की जलवायु के अनुकूल फसलों का चुनाव करना होता है। उसे अच्छे बीज की पहचान होनी चाहिए। अच्छे किसान को बीज बोने, खेती की देखभाल करने और फसल काटने में भी निपुण होना चाहिए। पौधों की बीमारी और खेती को नष्ट करनेवाले कीड़ों की जानकारी भी किसान के लिए बहुत ज़रूरी है। इसके बाद उसे अपनी उपज को बाज़ार में बेचना भी पड़ता है। इस प्रकार आज खेती-बारी भी एक हद तक विज्ञान हो गई है।

किसानों का सबसे बड़ा शत्रु बुरा मौसम है। ओलों की एक ही बौछार पके-पकाए खेत को नष्ट कर देती है।

एक आधुनिक कृषि फार्म जहां सब काम व्यवस्थित ढंग से होता है।

प्राचीन कटैया
मध्ययुगीन बोनेवाला
मध्ययुगीन कटैया
मध्ययुगीन कटैया
कुदाल
मध्ययुगीन हैरो
घोड़े वाला हल
पितोड़
दराती
खेती के सादे औज़ार

कई महीने तक बारिश न हो तो फसल सूख जाती है। इसके विपरीत, फसल-कटाई के दिनों में यदि एक हफ्ते वर्षा न हो और उजली धूप खिली रहे तो किसान अपना भाग्य सराहते रहते हैं।

भारत एक कृषिप्रधान देश है, लेकिन उन्नत देशों की तुलना में हमारे खेती-बारी के तरीके बहुत पिछड़े हुए हैं। भारत का आम किसान हल-बैल और दूसरे पुराने तरीकों से ही खेती करता है। खेती के नये तरीकों के बारे में उसे बहुत कम मालूम है। लेकिन स्वतंत्रता के बाद से देश की स्थिति बदली है। अब खेती-बारी अपढ़ और पिछड़े हुए लोगों का नहीं, बल्कि सभ्य और सम्मानित लोगों का व्यवसाय माना जाने लगा है। चकबंदी हो जाने से अब वैज्ञानिक ढंग से खेती करना आसान हो गया है।

(देखें : खेती की मशीनें; फसलों का हेरफेर)

गांठ (KNOTS) : हर लड़का जब स्कूल जाने के योग्य हो जाता है, तब तक उसे अपने जूते के फीते बांधना आ जाता है। वह उनमें कड़ी गांठ लगा सकता है। यह 'ग्रैनी' गांठ या 'रीफ' गांठ हो सकती है। लेकिन यह भी सम्भव है कि वह इनके स्थान पर 'बो' गांठ लगाना सीख जाए। 'बो' गांठ खोलने में कड़ी गांठ से आसान होती है।

हम सबको कुछ गांठें तो लगानी ही पड़ती हैं। कुछ लोगों का धन्धा ही ऐसा होता है कि उन्हें कई गांठें लगानी पड़ती हैं। इन लोगों में दर्जी, मल्लाह, मछुए, कबाड़िये, चरवाहे, कम्बल बनानेवाले और डाक्टर आते हैं।

गांठें कई तरह की होती हैं। 'ओवर हैंड' गांठ इनमें सबसे आसान है। यह रस्सी के सिरे पर इसलिए लगाई जाती है कि रस्सी उधड़ न जाए। '8' की शक्ल की गांठ रस्सी को चर्खी पर सरककर निकलने से बचाए रखती है। 'बोलाइन', जिसे कभी-कभी 'गांठों की रानी' कहा जाता है, उस समय बहुत काम की सिद्ध होती है जब रस्सी से किसी भारी चीज को उठाना या नीचे सरकाना होता है। 'शीट' गांठ दो रस्सियों को मजबूती से जोड़ने के लिए सबसे अच्छी पड़ती है।

कुछ गांठें फिसलनेवाली होती हैं। रस्सी के एक छोर को ज्यों-ज्यों खींचा जाता है, दूसरी ओर का फन्दा त्यों-त्यों छोटा होता जाता है। 'लारिएट' गांठ चरवाहों के काम में आनेवाली एक बहुत काम की फिसलनेवाली

विभिन्न प्रकार की गांठें

ओवरहैंड गांठ
8 की शक्ल की गांठ
रीफ गांठ
लारिएट गांठ
फिसलनी गांठ
दुहरी हिच गांठ
बोलाइन गांठ
डबल कैरिक घुमाव
शीपशैंक गांठ
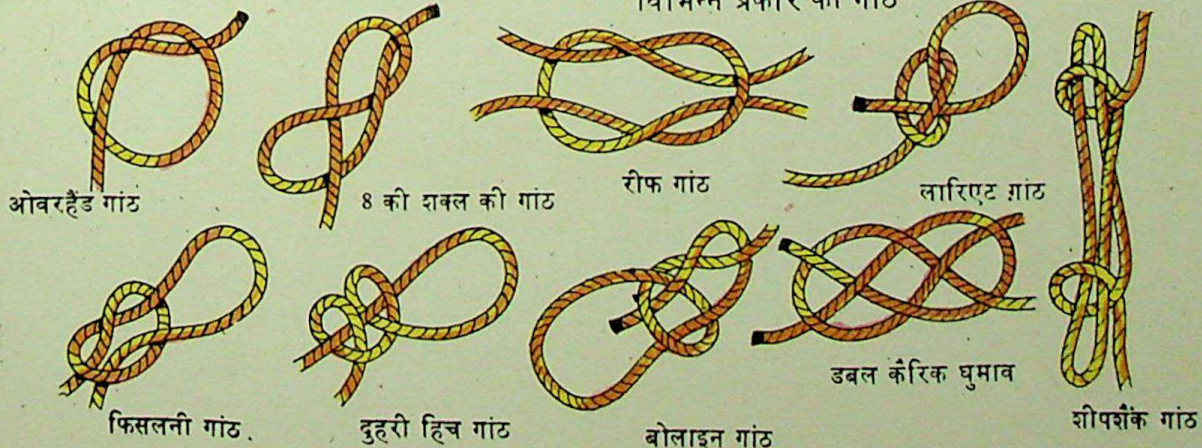
गांठ है। 'हिच' गांठ, नाव, घोड़े और गाय बांधने के लिए खास तौर पर अच्छी मानी जाती है।

बालचर बच्चों को कई तरह की गांठें लगाना सीखना पड़ता है। जब वे पड़ाव पर जाते हैं तो उन्हें गांठ लगाना भी सिखाया जाता है।

गिनतारा (ABACUS) : गिनती करने, जोड़-बाकी करने और गुणा-भाग करने का यह बड़ा उपयोगी साधन है। चित्र में लड़का गिनतारे पर गिनती कर रहा है। इस गिनतारे में लकड़ी के मनके हैं और वे तारों पर ऊपर-नीचे लाए-ले जाए जा सकते हैं।

चित्र में सबसे दाहिने तार पर बीच के हिस्से के नीचे की ओर का हर मनका 1 के बराबर है और उसके ऊपर की तरफ का हर मनका 5 के बराबर है। दूसरे तार पर नीचे की तरफ का हर मनका 10 के बराबर है और ऊपर का 50 के बराबर। तीसरे तार पर नीचे की तरफ के मनके सैकड़े के लिए हैं। इस तरह हर तार पर के मनके अलग-अलग संख्याओं के लिए हैं।

गिनते समय मनके को बीच के हिस्से की तरफ लाया जाता है। चित्र में मनकों से इस समय जो संख्या बन रही है, वह 1524 है।

गुड़िया (DOLLS) : सभी देशों के बच्चे गुड़िया से खेलते हैं और हज़ारों साल से खेलते रहे हैं। भारत के प्राचीन खंडहरों में मिट्टी की गुड़ियाएं मिली हैं। मिस्र और बेबीलोनिया के प्राचीन नगरों के खंडहरों में भी ऐसी ही गुड़ियाएं मिली हैं। उस ज़माने के लोगों की कब्रों में भी गुड़ियाएं मिली हैं जब आदमी ने लिखना तक नहीं सीखा था।

आजकल की अधिकांश गुड़ियाएं सचमुच के बच्चों जैसी लगती हैं। ये गुड़ियाएं बड़ी मुलायम होती हैं और तरह-तरह से इन्हें मोड़ा-तोड़ा जा सकता है। कुछ गुड़ियाएं बोलती भी हैं। उनमें से 'मम्मी' या 'मामा' की आवाज़ निकलती है। कुछ चाभीदार गुड़ियाएं चलती हैं, नाचती हैं या झूला झूलती हैं। मिट्टी, कपड़ा, लकड़ी, रबर, प्लास्टिक आदि की बड़ी सुन्दर गुड़ियाएं बाज़ार में मिलती हैं।

दिल्ली में संसार-भर की गुड़ियाओं का एक बड़ा ही सुन्दर संग्रहालय 1965 से स्थापित किया गया है।

(देखें : खिलौने)

गेहूं (WHEAT) : यह कोई नहीं जानता कि मनुष्य ने सबसे पहले कौन-सा पौधा उगाना सीखा था। शायद वह गेहूं था। कम से कम गेहूं की खेती हज़ारों वर्षों से होती चली आ रही है। प्राचीन काल के भारतीय, मिस्र और बेबीलोनिया-निवासी गेहूं की खेती करते थे। चीनी लोग इसे एक पवित्र अन्न मानते थे और देवताओं के सम्मान में इसकी खेती करते थे। आज यह सबसे महत्त्वपूर्ण खाद्यान्न है।

गेहूं भी घास की किस्मों में से है। इसलिए यह जई, राई, धान, और जौ का ही भाई है।

यह अनाज दुनिया के बहुत बड़े भाग में पैदा होता है। विभिन्न जलवायु में होनेवाली गेहूं की विभिन्न किस्में हैं। कुछ किस्मों के लिए अधिक पानी की आवश्यकता पड़ती है। कुछ किस्में दूसरी किस्मों की अपेक्षा अधिक गर्मी या सर्दी सहन कर सकती हैं। कुछ किस्में औरों से जल्दी तैयार हो जाती हैं। वैज्ञानिक सदा गेहूं की ऐसी किस्में विकसित करने में लगे रहते हैं जो अधिक गर्मी व सर्दी बर्दाश्त कर सकें और अधिक उपज दे सकें।

अमरीका और कनाडा दुनिया के सबसे अधिक गेहूं पैदा करनेवाले देश हैं। भारत में पंजाब अपनी गेहूं की पैदावार के लिए प्रसिद्ध है। कनाडा और अमरीका में गेहूं की दो फसलें उगाई जाती हैं।

गेहूं से रोटियां, केक, डबल रोटियां, बिस्कुट, सेवइयां और पकवान आदि बनाए जाते हैं।

घंटे और घंटियां (BELLS) : शृंगार के एक सामान के रूप में मनुष्य हज़ारों वर्ष पहले से घंटियों को काम में लाने लगा था। स्त्रियों के ज़ेवरों में नन्ही-नन्ही घंटियों

विभिन्न प्रकार की घंटियां

वाले कितने ही जेवरों का आज भी काफी चलन है। जानवरों की गरदनों में लटकी घंटियां दूर से ही उनके आने-गुज़रने की सूचना दे देती हैं। घरों में पूजा के साथ घंटियां बजाते हैं तो मंदिर में घंटा बजाए बिना प्रार्थना को अधूरा समझा जाता है। और स्कूलों में तो बच्चों के कान छुट्टी की घंटी की आवाज़ सुनने को सदा ही लालायित रहते हैं।

पुराने ज़माने में प्रायः छोटी-छोटी घंटियां ही बनाई जाती थीं और स्त्री-पुरुष दोनों ही वस्त्रों की सजावट और शरीर के शृंगार के लिए उनका उपयोग करते थे। पायज़ेब की घंटियां चलते समय किस तरह रुनझुन करती हैं। भारतीय नृत्यों में तो पैरों में घुंघरू बांधे बिना काम चल ही नहीं सकता। पर घुंघरुओं और पायज़ेबों की घंटियों की आवाज़ हलकी और मीठी ही होती है। ज़ोर की और देर तक गूंजनेवाली आवाज़ पैदा करनी हो, तो उसके लिए घंटा चाहिए। मंदिरों और गिरजाघरों के घंटों की आवाज़ कितनी दूर तक चली जाती है!

बड़े घंटों का बनना अब से कोई 1500-1600 बरस पहले शुरू हुआ। बाद में तो इतने बड़े-बड़े घंटे बनाए जाने लगे कि उनको उठाने के लिए भी पचासों आदमियों की ज़रूरत पड़ती थी। सोवियत संघ की राजधानी मास्को में एक घंटा इतना बड़ा है कि दुनिया में इसके जोड़ का दूसरा घंटा नहीं है। पर यह घंटा कभी भी बजा नहीं, क्योंकि यह ढलाई के समय ही टूट गया था। बजनेवाला सबसे बड़ा घंटा भी मास्को में ही है।

घंटियां और घंटे कांच, लकड़ी, चीनी मिट्टी, प्लास्टिक, धातु—कितनी ही चीज़ों से बनाए जाते हैं। बड़े घंटे आम तौर पर कांसे के होते हैं।

(देखें : आज़ादी का घंटा)

घर (HOMES) : दुनिया में लोग तरह-तरह के घर बनाते हैं। इनकी सामग्री भी अलग-अलग तरह की होती है। अफ्रीका के जंगल में रहनेवाला चाहे तो भी बर्फ का घर नहीं बना सकता। उसे घास-फूस का ही मकान बनाना होगा। इसी तरह ठंडे देश में ऐसे मकान की ज़रूरत रहती है जो गरम रहे और जिसमें हवा ज़्यादा न आ सके।

घर कैसा भी बना हो लेकिन वह रहनेवाले की सुविधा के अनुकूल होना चाहिए। घुमक्कड़ जाति के लोग ईंट-पत्थर के पक्के मकानों में नहीं रह सकते। उन्हें तो तम्बू का ही घर चाहिए, जिसे वे रात-भर रहने के बाद दूसरे दिन फिर बांध-लादकर आगे चल दें।

आदमी ने सबसे पहले गहरे गड्ढों में ज़मीन पर पत्थर की दीवारों के मकान बनाए। दीवारें कभी लकड़ी या मिट्टी की भी होती थीं। उनमें चिमनी या खिड़कियां नहीं होती थीं। उनमें रहना बहुत अच्छा नहीं लगता होगा।

हज़ारों वर्ष पहले ऐसा मकान बनाने के बाद आदमी ने गृह-निर्माण के काम में बड़ी तरक्की की। नई सामग्रियां काम में लाई गईं। अगर प्रस्तर युग का आदमी आज के
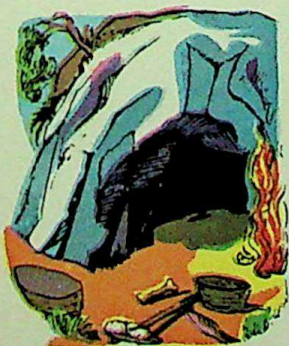
गुहा-गृह

अमरीकी आदिवासियों की झोंपड़ी

अनेक फ्लैटों वाले आधुनिक मकान
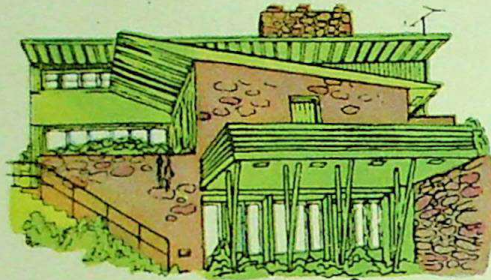
आधुनिक मकान
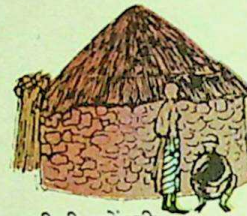
अफ्रीकी झोंपड़ी
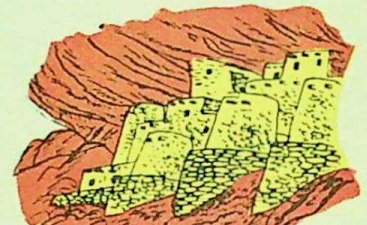
टीलों पर आदिवासियों के घर

एस्कीमो घर—इगलू

लट्ठों का केबिन

मिट्टी की झोंपड़ी
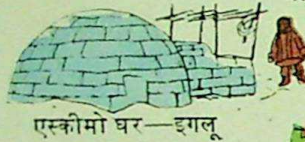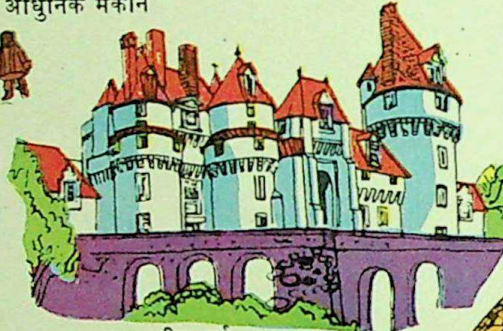
मध्ययुगीन दुर्ग
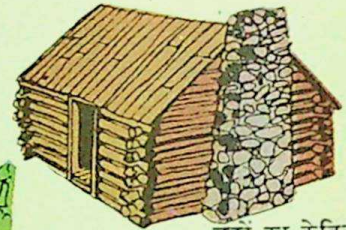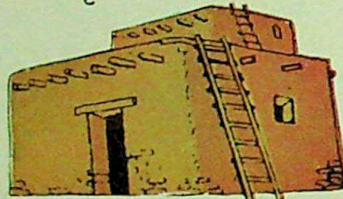
फूस की छत वाला घर

मिट्टी का घर
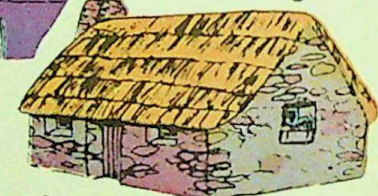
झील में बना घर

अरब तंबू

पहाड़ पर लकड़ी का बंगला
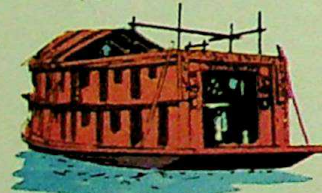
मध्ययुगीन भवन

चीनी हाउस बोट

रेड इंडियन घर
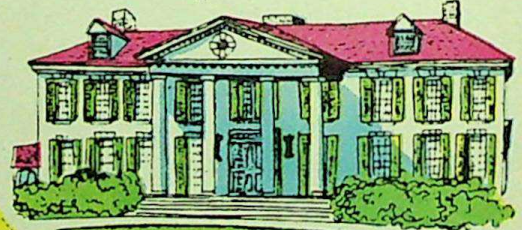
लकड़ी और ईंटों का घर
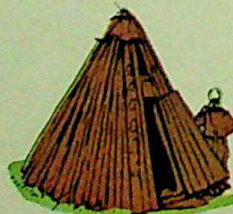
लैप लोगों की झोंपड़ी
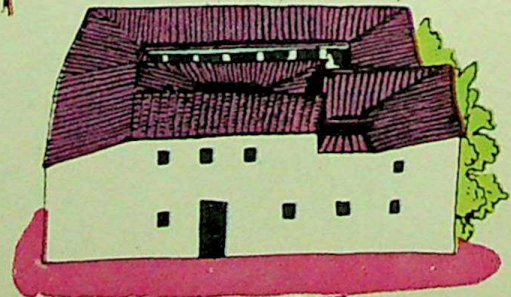
प्राचीन रोम का एक घर

मकान देखे तो चकित रह जाए। नल, बिजली, खिड़कियां, शोर रोकनेवाली दीवारें, बॉयलर, स्टोव और रेफ्रिजरेटर की सुविधाएं देखकर तो उसे सब कुछ जादू का खेल लगेगा।

आधुनिक युग में नई-नई तरह के मकान बनने लगे हैं। आज हज़ारों व्यक्ति मकानों के नये से नये सुख-सुविधापूर्ण नमूने बनाकर अपनी रोज़ी कमाते हैं। मकान बनाने की नई सामग्री के बारे में नित नये प्रयोग होते रहते हैं। नये तरीके के मकानों के कुछ नमूने चण्डीगढ़ (पंजाब) में देखे जा सकते हैं।

भविष्य में लोग शायद हमसे भी अच्छे मकानों में रहें, जैसेकि हम आजकल पुराने मकानों से बहुत अच्छे मकानों में रहते हैं। (देखें : इमारती सामान)

चमड़ा (LEATHER) : हर तरह का चमड़ा किसी न किसी जानवर की खाल से तैयार किया जाता है। खाल को साफ करके इस तरह कमाया जाता है कि यह अधिक टिकाऊ बन सके। अधिकतर चमड़ा गाय, बकरी, भैंस आदि ऐसे जानवरों से प्राप्त होता है जिनके शरीर पर बाल होते हैं। लेकिन कुछ चमड़ा सांप, बड़ी छिपकली, और मगर की खाल से भी तैयार किया जाता है। यहां तक कि शुतुरमुर्ग की खाल से भी चमड़ा तैयार किया जाता है।

सबसे पहले हमारे पूर्वज सम्भवतः खाल के ही कपड़े पहनते थे। लेकिन यह खाल कमाई हुई नहीं होती थी। इसपर बाल भी लगे रहते थे। जो भी हो, आज से बहुत पहले लोगों ने चमड़े को कमाना सीख लिया था। मिस्र के निवासी तो इतना बढ़िया चमड़ा कमाते थे कि उस युग के कुछ चमड़े आज तक बचे रह गए हैं।

किसी जानवर की खाल से चमड़ा बनाने के कई तरीके हैं। एक उपाय है इसपर तेल मलना। अमरीकी आदिवासी इस ढंग से बहुत अच्छा चमड़ा तैयार करते थे। कभी-कभी वे तेल से मले हुए चमड़े को धुआं भी देते थे। इससे चमड़े का रंग काला पड़ जाता था। चमड़ा कमाने का दूसरा उपाय है, कुछ पेड़ों की छालों या लकड़ियों से तैयार किए द्रव में चमड़े को भिगोना। चमड़ा कमाने का एक तीसरा ढंग है फिटकरी या नमक का प्रयोग करना।

चमड़े की कई किस्में होती हैं। चमड़ा हमारे कई काम आता है। चित्र में इनमें से कुछ को दिखाया गया है। कोई भी एक चमड़ा सभी कामों में नहीं लाया जा सकता। जैसे, जूते के तल्ले के लिए तैयार किया हुआ मोटा और कड़ा चमड़ा जूते के ऊपरी हिस्से के लिए ठीक नहीं रहेगा।

बछड़े, मेमने, सांभर, बकरे, हिरन, सील, बड़ी छिपकली, मगर इत्यादि के चमड़ों को इन जानवरों के नाम के साथ जोड़कर ही कहने का चलन है। लेकिन कुछ चमड़ों का नाम उस स्थान के नाम पर रखा गया है जहां ये पहले-पहल तैयार हुए थे, जैसे मोरक्को का चमड़ा। पेटेंट चमड़े को बाद में कई बार रंगा जाता है जिससे यह काफी चिकना और चमकीला हो जाता है।
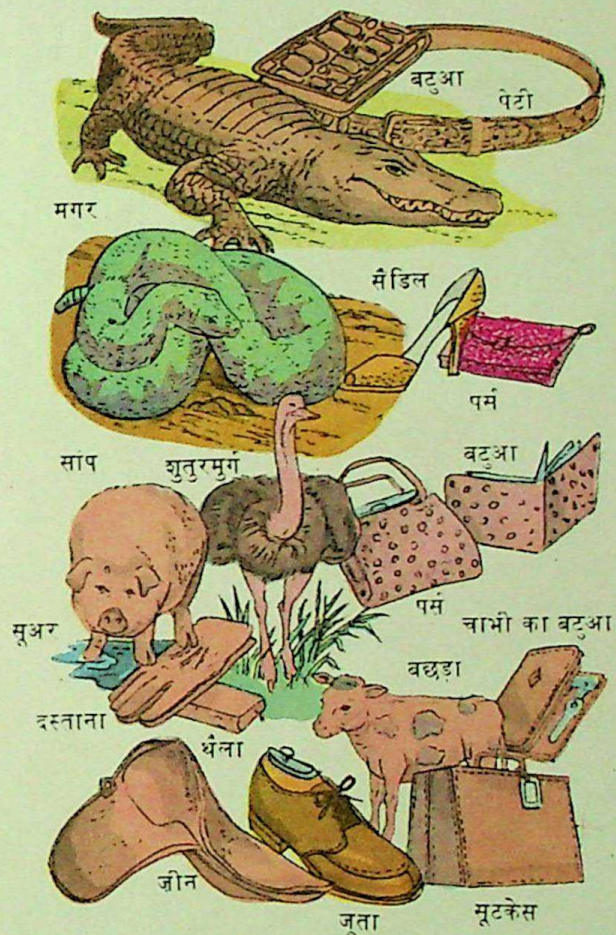
आजकल नकली चमड़े भी चल गए हैं। लेकिन उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है। (देखें : जूते)

चमड़ा और चमड़े की चीज़ें

चारा (FORAGE CROPS) : खेतों पर काम करनेवाले चौपायों और गाय-भैंसों आदि के चारा खाने के काम आता है। चारे में घास का महत्त्व सबसे अधिक है। दुर्भाग्य

गाय-भैंस के लिए हरा चारा आवश्यक है।

तिपतिया घास चारे के रूप में अच्छी रहती है और मिट्टी को भी उपजाऊ बनाती है।

से अधिकांश स्थानों पर जाड़े के दिनों में घास इतनी कम होती है कि जानवरों के लिए सारे साल चारा जुटाना मुश्किल हो जाता है। हां, गर्मियों में घास खूब होती है। गर्मियों में घास के एक बड़े भाग को, सुखाकर और कुट्टी बनाकर, जाड़ों के लिए रख लिया जाता है। बाकी हरी घास जानवरों को तभी खिला दी जाती है।

शलजम और चुकंदर आदि कंदों का उपयोग भी चारे के रूप में किया जाता है। इनमें घास जैसे गुण तो नहीं हैं फिर भी ये कंद पशुओं के लिए अच्छी खूराक माने जाते हैं।

भारत में चारा अधिकतर हरी घास को ही कहते हैं। जई, चरी, घास और गन्ने के अगले हिस्से को अक्सर 'चारा' कहा जाता है। तेल की खल, दाल की चूनी और जौ के अरदाले को अक्सर रातब कहा जाता है। दूध देनेवाले जानवरों—गाय-भैंसों आदि के लिए रातब चारे से अच्छा माना जाता है। जाड़ों में घास की कमी के कारण जानवरों को अधिकतर रातब ही दिया जाता है। अक्सर रातब और चारा मिलाकर दिया जाता है, और उसे भी चारा ही कहते हैं।

चावल (RICE) : चावल कई सदियों से लोगों का आम भोजन रहा है। कहीं-कहीं तो यह 4,000 वर्ष से भी पहले से बोया जाता रहा है।

दुनिया का नब्बे प्रतिशत चावल एशिया में पैदा होता है। भारत के अलावा दक्षिणी चीन, जापान, फिलीपाइन तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों के लोग चावल खाते हैं। एशिया में गेहूं से ज़्यादा चावल ही खाया जाता है। भारत में असम, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण भारत और पश्चिमी तट धान उपजानेवाले क्षेत्र हैं।

चावल को ज़्यादा पानी और ज़्यादा गर्मी चाहिए। धान के खेतों में अधिकांश समय पानी भरा रहता है। इन खेतों से पानी तभी निकाला जाता है जब धान पक जाता है और कटने को होता है।

धान से चावल बनाने के लिए उसे हाथ से ढेंकी या ओखली में, या फिर मिलों में मशीन से कूटा जाता है, जिससे उसका छिलका अलग हो जाता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से हाथ का कुटा चावल ज़्यादा अच्छा रहता है, क्योंकि इस तरह पौष्टिक तत्त्व कम बरबाद होते हैं। नये चावल से पुराना चावल अधिक स्वादिष्ट और सुपाच्य होता है।

चावल हमारे देश में प्रायः दाल के साथ खाया जाता है। चावल को दूध के साथ पकाने पर खीर बनती है।

मशीन से धान की कटाई

धान की बाली
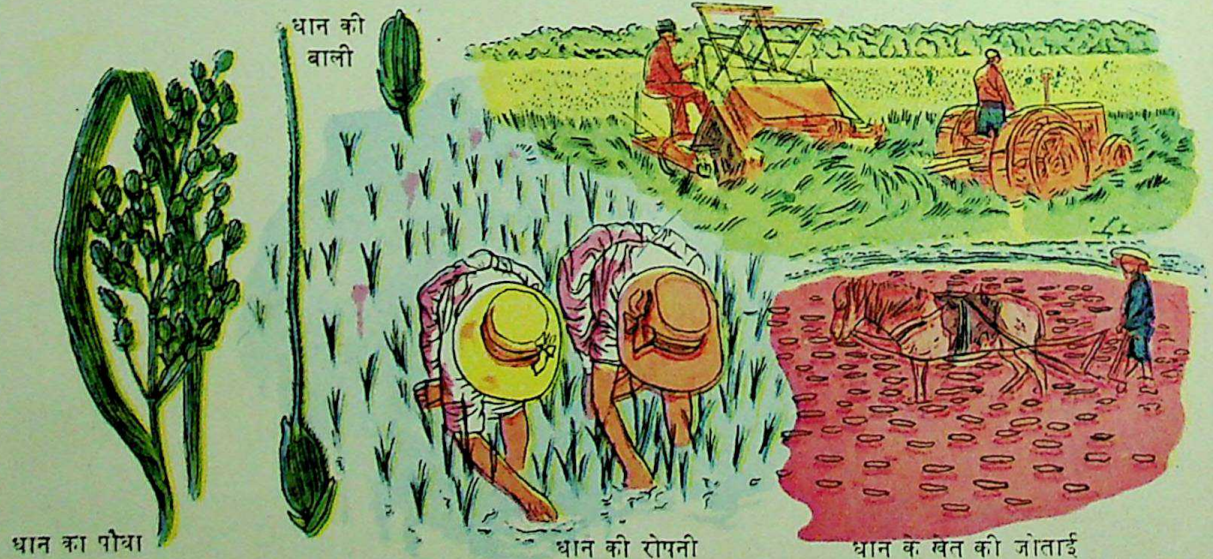
धान का पौधा

धान की रोपनी

धान के खेत की जोताई

धान से मूढ़ी और चिउड़ा भी बनाया जाता है। जापानी लोग चावल से 'साके' नाम की मदिरा बनाते हैं। उससे और तरह की शराबें भी बनती हैं। धान के पुआल से हैट बनाए जाते हैं। इससे जूते और चटाइयां भी बनती हैं।

चिड़ियाघर (zoos) : अगर किसीको जिराफ़, शुतुरमुर्ग, हाथी और भालू देखना हो तो वह कहां जाएगा? निःसंदेह, वह चिड़ियाघर जाएगा। चिड़ियाघर इसका नाम इसलिए पड़ा मालूम होता है कि पहले लोग पालतू जीवों में चिड़ियों को ही अधिकतर पालते थे। अंग्रेज़ी में इसे 'ज़ू' कहते हैं। 'ज़ू' एक यूनानी शब्द है, जिसका अर्थ है जानवर।

आज किसी भी चिड़ियाघर में दुनिया के विभिन्न देशों के जानवर देखे जा सकते हैं। भारतीय बाघ की बगल में ही अफ्रीका का बबर शेर दिखाई पड़ सकता है, और पास ही चीनी भालू भी मिल सकता है। चिड़ियाघर में हम कुछ ही मिनटों में जितने जानवरों को देख सकते हैं, उनके लिए वैसे हमें हज़ारों मील की यात्राएं करनी पड़ेंगी।

आजकल के चिड़ियाघरों में जानवरों के रहने के स्थान, यथासंभव, वैसे ही बनाए जाते हैं जैसेकि उनके जंगलों में होते हैं। कुछ जानवरों को एकदम खुली जगह में रखा जाता है।

दुनिया के विभिन्न देशों से जानवरों को लाकर उन्हें

चिड़ियाघर में विभिन्न देशों के जानवर रखे जाते हैं।

एक जगह आराम से रखना कोई हंसी-खेल नहीं है। ध्रुव प्रदेश का भालू पूरे साल बर्फ पर ही रहता है। इसी तरह कुछ बन्दर बहुत गर्म जगहों से लाए जाते हैं। चिड़ियाघर की देखभाल करनेवाले लोग ध्रुव प्रदेश के भालू को ठंडक और गर्म देश के बन्दरों को गर्मी पहुंचाने के लिए जो कुछ भी कर सकते हैं, करते हैं।

जानवरों को उनका आहार खिलाना भी आसान काम नहीं है। चिड़ियाघर के जानवरों के आहार के लिए सैकड़ों तरह की चीज़ें ज़रूरी होती हैं। अगर हाथी सूखी घास खाएगा तो शेर मांस खाएगा और बन्दर फल और सब्ज़ियां खाएगा। एक बड़े चिड़ियाघर के लिए साल में टनों मांस, रोटी, मछली, सूखी घास, दाना आदि खरीदना पड़ता है। इसके अलावा, केला, मुनक्का, नारंगी, अंडा, सूखा दूध, सूखी मक्खियां और टिड्डे आदि भी खरीदने पड़ते हैं।

कभी-कभी जानवर आहार लेने से ही इन्कार कर देते हैं। तब उन्हें बहला-फुसला कर खिलाना एक मुश्किल काम हो जाता है। अगर कोई अजगर अपना जबड़ा बैठा ले, तो उसके गले के भीतर खाना ठेलना कितना कठिन होगा।

जानवर बीमार भी पड़ते हैं। अगर किसी शेर के दांत में दर्द होने लगे और दांत उखाड़ना पड़े, या किसी हाथी के पैर में चोट लग जाए और उसके नाखून निकालने पड़ें तो कितनी मुश्किल पेश आती होगी, यह हम सोच सकते हैं।

चिड़ियाघर बहुत पुराने ज़माने में भी पाए जाते थे। सबसे प्राचीन चिड़ियाघर असीरिया का था जिसे अब से 2,800 वर्ष पहले वहां के राजाओं ने आज के निमरूद नामक स्थान में बनवाया था। उसमें 15 बबर शेर, और 50 शेर के बच्चे राजमहल के पिंजड़ों के लिए पाले जाते थे। इसके अलावा जंगली सांड, जंगली गधे, हिरन, बारहसिंगे, चीते और बन्दर आदि भी थे।

आरंभ में बर्तन बनाने का काम हाथ से किया जाता था।

चीनी के और मिट्टी के बर्तन (CHINA AND POTTERY) : चीनी मिट्टी एक विशेष प्रकार की मिट्टी होती है। इसके बर्तन चमकदार होते हैं। चीनी के बर्तन सबसे पहले चीनवासियों ने बनाए थे। उन्होंने सैकड़ों वर्षों तक इसके भेद को संसार के लोगों से छिपाए रखा। चीनी के सामान को पोर्सीलेन भी कहते हैं।

मिट्टी के बर्तन पहले शायद केवल धूप मे ही सुखाए जाते थे। बाद को वे पकाए जाने लगे। कुछ समय बाद लोगों को उनपर ऐसा ग्लेज़ चढ़ाने की विधि मालूम हो गई जिसपर पानी असर नहीं करता था। ग्लेज़ ऐसा पदार्थ होता है जो गर्मी से पिघलकर कांच बन जाता है।

मिट्टी के बर्तन पकाने की विधि का आविष्कार, शायद, संसार में अनेक बार अनेक स्थानों पर किया गया है। संसार के विभिन्न भागों में गांवों के खंडहरों में मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े पाए गए हैं। उनसे वैज्ञानिकों को उन लोगों के बारे में काफी पता लग जाता है जो उन अवशेषों के स्थान पर रहते थे।

पहले कुम्हार अपने बर्तनों को उपयोगी बनाना चाहते

लोगों ने सुन्दर बर्तन बनाना सीख लिया।

प्राचीन फिलस्तीन के बर्तन

प्राचीन यूनानी कलश

थे। इसके बाद वे उन्हें सुन्दर बनाने में भी रुचि लेने लगे। 2,500 वर्ष पहले यूनान में जो अमृतबान बनाए जाते थे, उनसे बढ़िया अमृतबान अभी तक नहीं बनाए जा सके हैं।

चीनी की वस्तुएं बनाना सरल नहीं है। पहले बढ़िया मिट्टी की खोज की जानी चाहिए। उसके बाद ये पांच

प्यूबलो रेड इंडियन रंगीन बर्तन बनाना जानते थे।

काम किए जाने चाहिए : गूंथना, आकृति देना, पकाना, ग्लेज़ करना, और चिताई करना। पिछले तीनों काम सदा इसी क्रम से नहीं किए जाते हैं।

गूंथने की क्रिया में मिट्टी में पानी डाला जाता है। शायद दूसरी वस्तुएं भी मिलाई जाती हैं। बोन चाइना नामक चीनी मिट्टी में हड्डियों की राख मिलाई जाती है। इसका मिश्रण उंडेलने योग्य पतला अथवा रोटी के आटे के समान गाढ़ा हो सकता है।

आकृति देने का काम आरम्भ में सदा हाथ से किया जाता था। पर कुम्हार कई हज़ार वर्षों से चाक का उपयोग कर रहे हैं। पश्चिमी एशिया के प्राचीन नगरों के खंडहरों में 4,500 वर्ष से अधिक पुराने चाक पर बने हुए बर्तन पाए गए हैं। चाक के ऊपर मिट्टी घूमती है। कुम्हार अपने अंगूठे और उंगलियों से उसे दबाकर मनचाही आकृति देता है। मिट्टी को आकृति देने के लिए सांचे काम में लाए जा सकते हैं। आजकल अधिकतर वस्तुएं सांचों से बनाई जाती हैं।

मिट्टी के बर्तन आवे या भट्टी में पकाए जाते हैं। चीनी के सामान को कई बार पकाया जा सकता है।

ग्लेज़ को सुन्दर रंगों से रंगा जा सकता है। वस्तु पर ग्लेज़ चढ़ाए जाने के बाद उसे पकाया जाता है। कभी-कभी ग्लेज़ की कई तहें लगाई जाती हैं।

मिट्टी के बर्तनों को सजाने की कई रीतियां हैं। गीली मिट्टी में किसी नक्श को दबाकर अंकित किया जा सकता है। उसे उनके ऊपर मिट्टी लगाकर बनाया जा सकता है। उसे ग्लेज़ लगाने से पहले चित्रित किया जा सकता है या एक ग्लेज़ के ऊपर बनाया जा सकता है। यह भी होता है कि ग्लेज़ ही वस्तु की एकमात्र सजावट हो।

चीनी की वस्तुओं को सजाने की ये सब रीतियां पुरानी हैं। सजावट का काम चाक के आविष्कार से पहले भी किया जाता था। यहां बर्तनों के जो चित्र दिए गए हैं, वे अधिकतर पुराने ज़माने के हैं। आजकल चीनी मिट्टी का बहुत बढ़िया माल तैयार किया जाता है। संसार के बहुत से स्थान इसके लिए प्रसिद्ध हैं।

छाल (BARK) : हर पेड़ की अपनी ही खास तरह की छाल होती है—किसीको चिकनी, तो किसीकी खुरदरी, किसीकी मोटी, तो किसीकी पतली। किसी पेड़ की छाल पर धारियां होती हैं, तो किसी पर रंगीन चित्तियां। लेकिन देखने में पेड़ों की छालों में चाहे कितनी ही विभिन्नता क्यों न हो, अपने-अपने पेड़ों के लिए वे समान उपयोगी होती हैं।

छाल की बाहरी परत कॉर्क की बनी होती है और यह पेड़ के लिए कपड़े का काम करती है। यह परत जल-सह (Waterproof) होती है और यह पेड़ को जानवरों के आघात से बचाती है और सुखानेवाली हवा से उसकी रक्षा करती है। फिर यह छाल की भीतरी परत की भी रक्षा करती है। भीतरी परत बड़ी मुलायम होती है और पेड़ के जीवन के लिए वह बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। यह परत चालनी नलिकाओं (Sieve Tubes) नामक महीन-महीन नलियों से मिलकर बनती है, जिनके द्वारा पेड़ को उसकी खूराक मिलती है।
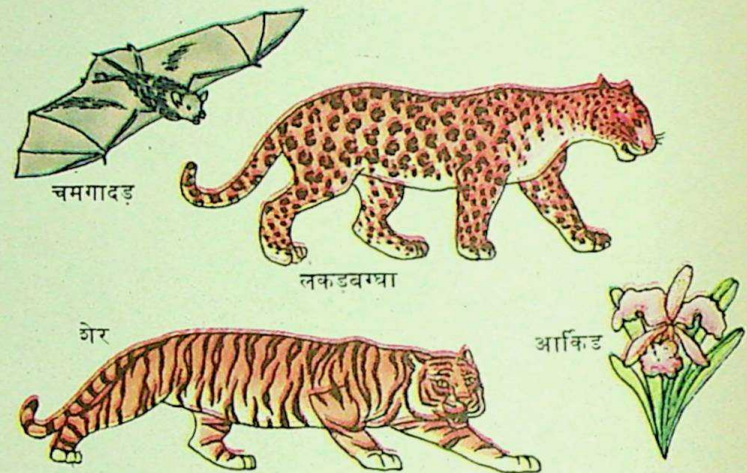
साइकामोर वृक्ष की छाल

हिकोरी वृक्ष की छाल

छाल के ठीक नीचे पेड़ का एक और महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है और इसे भी सुरक्षा मिलना ज़रूरी है। यह हिस्सा वह है, जहां नई लकड़ी बनती है।

छाल का होना पेड़ के जीवन के लिए आवश्यक है। अगर इसे अलग कर दिया जाए, तो पेड़ जी नहीं सकता। कभी-कभी बिजली गिरने से पेड़ की छाल उखड़ जाती है। ऐसा होने पर पेड़ बिलकुल सूख जाता है।

छालें पेड़ों के लिए ही नहीं, मनुष्य के लिए भी बड़ी उपयोगी हैं। कई छालें चमड़ा कमाने, रंगाई तथा अन्य उद्योग में इस्तेमाल होती हैं। कई छालों से दवाएं तैयार की जाती हैं। मलेरियानाशक कुनैन एक पेड़ की छाल से ही बनती है। बोतलों में लगनेवाली डाट—कार्क—भी एक छाल से ही तैयार होती है।

चमगादड़

लकड़बग्घा

शेर

आर्किड

जंगल (JUNGLES) : पेड़ों के लिए गर्मी, नमी और धूप की ज़रूरत होती है। यही कारण है कि दुनिया के सभी जंगल भूमध्यरेखा के आसपास पाए जाते हैं।

जंगलों में पेड़ों को सूरज की रोशनी पाने की होड़-सी रहती है। इनमें कुछ छरहरे और पतले होकर ऊपर तक पहुंच जाते हैं। जंगल के कुछ पौधे दूसरे पेड़ों पर उगते हैं। बहुत-से पौधे लताओं के रूप में एक से दूसरे पर फैले रहते हैं। अगर एक जंगली पेड़ को जड़ से काट भी दिया जाए तो वह ज़मीन पर नहीं गिरेगा क्योंकि बेलें उसे अपने स्थान पर बनाए रखेंगी।

कुछ जंगली पौधों में बहुत सुन्दर फूल लगते हैं। कुछ जंगली पौधे ज़हरीले होते हैं। कीड़े-मकोड़ों को मारने के लिए हमारे काम में आनेवाले तमाम ज़हर हमें जंगलों से ही प्राप्त होते हैं। आज भी कई देशों में आदिवासी लोग अपने शिकार के लिए ज़हरीले बाणों का प्रयोग करते हैं।

लगभग हर बड़े जंगल में कुछ शेर, चीते, लकड़बग्घे आदि पाए जाते हैं। सुन्दरवन के शेर तो मशहूर ही हैं।
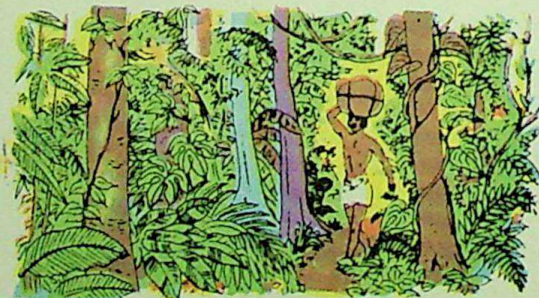
जंगली पगडंडियों के आसपास खूब पेड़-पौधे होते हैं।

हाथी, रीछ, गैंडे, हिरन, कुत्ते, गीदड़ आदि कुछ दूसरे जानवर भी जंगल में पाए जाते हैं। हर जंगल में किसी न किसी प्रकार के बन्दर और चमगादड़ भी होते हैं। चिड़ियों, सांपों-गोजरों और कीड़ों की संख्या तो सबसे

अधिक होती है। ऐसा कहा जाता है कि आज की सभी मुर्गियां और मुर्गे भारतीय बनमुर्गियों की सन्तान हैं।

जंगल के सैलानियों को भयानक जानवरों के बाद सबसे अधिक डर कीड़ों से लगता है। कुछ कीड़े रोग फैलाते हैं, दूसरे कुछ मात्र गन्दगी को बढ़ाते हैं। जंगली चींटियों की भी अनेक किस्में हैं। अफ्रीका की जंगली चींटियों के झुण्ड जंगल में उगते बाग-बगीचों को रात ही रात में चट कर जाते हैं।

जंगलों में आदमी के खाने योग्य शायद ही कोई फल-मूल मिले।

कुछ जंगलों पर विजय पाई जा चुकी है। कुछ को काटकर खेती और बागवानी के काम में लाया जा रहा है। कुछ को चरागाह बना लिया गया है। जंगलों में कुछ शहर भी बसा दिए गए हैं। लेकिन इनके लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा है। कहीं-कहीं जंगलों में प्राचीन काल के नगरों के भग्नावशेष भी पाए गए हैं। (देखें: वन और वनोद्योग)

जंगली फूल (WILD FLOWERS): हमारे बगीचों में फूलों के जो पौधे लगाए जाते हैं, उनमें से अनेक दूसरे देशों से लाए गए होते हैं। यदि उनकी देखभाल न की जाए तो वे सूख जाएंगे। हमें उनको अच्छी तरह सींचना पड़ता है, खाद देनी होती है और घास-पात को हटाकर उनके बढ़ने की पूरी व्यवस्था करनी होती है। लेकिन फूलों के कुछ पौधे ऐसे होते हैं जिनके लिए इतनी परेशानी उठानी नहीं पड़ती। इन्हें हम जंगली फूल कहते हैं। इनमें से अधिकांश हमारे देश की अपनी धरती में विकसित हुए हैं। फूलों के पौधों में से कुछ पेड़ों के रूप में हैं, कुछ झाड़ियों के रूप में, कुछ लताओं के रूप में और कुछ घासों के रूप में होते हैं।

फूलों के पेड़ों में कनेर, कदम्ब, कचनार, दुपहरिया, चम्पा, अड़हुल, अमलतास आदि आते हैं। झाड़ियों और लताओं में गुलाब, जूही, बेला, चमेली, रात की रानी, आदि आते हैं। घास की कोटि में केसर, केवड़ा, गेंदा, सूरजमुखी, आदि फूल आते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ फूल पानी में भी होते हैं। कमल और कुमुदिनी ऐसे ही फूल हैं।

सभी फूल एक ही मौसम में नहीं खिलते। यह सच है कि अधिकांश फूल वसन्त ऋतु में खिलते हैं, परन्तु कुछ

कोलम्बाइन

जंगली जिरेनियम

कार्डिनल फूल

मैलो

वायोलेट
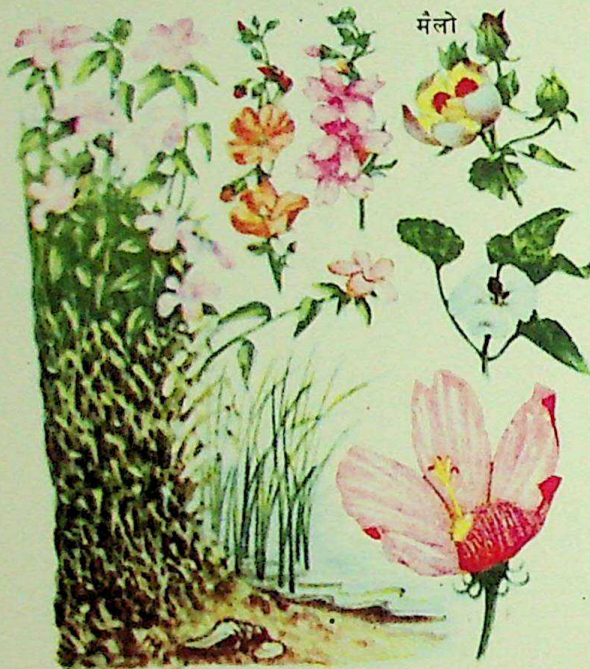
फूल दूसरी ऋतुओं में भी खिलते हैं। कुछ फूलों के खिलने की एक निश्चित वेला होती है। जैसे कुछ फूल दोपहर में खिलते हैं, कुछ आधी रात को, कुछ सुबह खिलते हैं, कुछ शाम को।

भारत के अधिकांश फूलों की विशेषता यह है कि उनकी अपनी एक विशेष सुगंध होती है। पश्चिमी देशों में जहां अधिक ध्यान फूलों के रंग और रूप पर दिया जाता रहा है, वहां भारत में उनकी सुगंध को ही महत्त्व दिया जाता है।
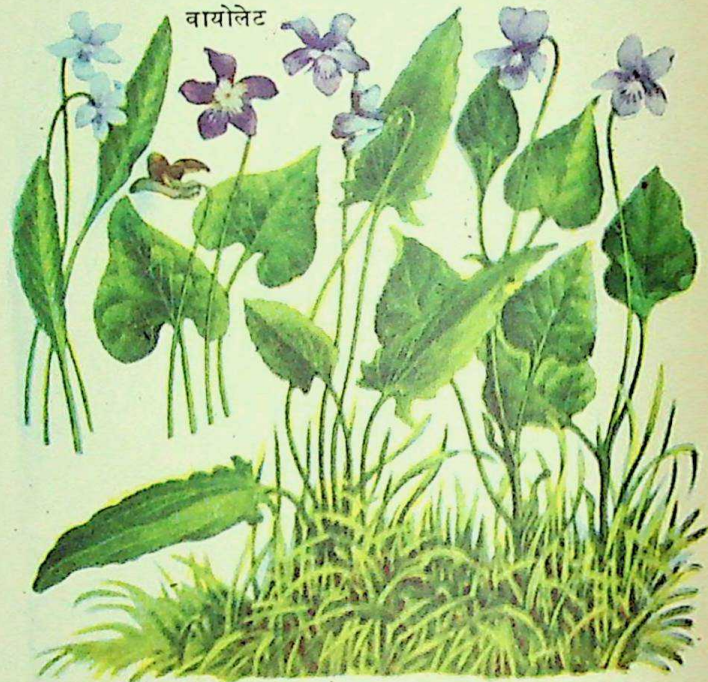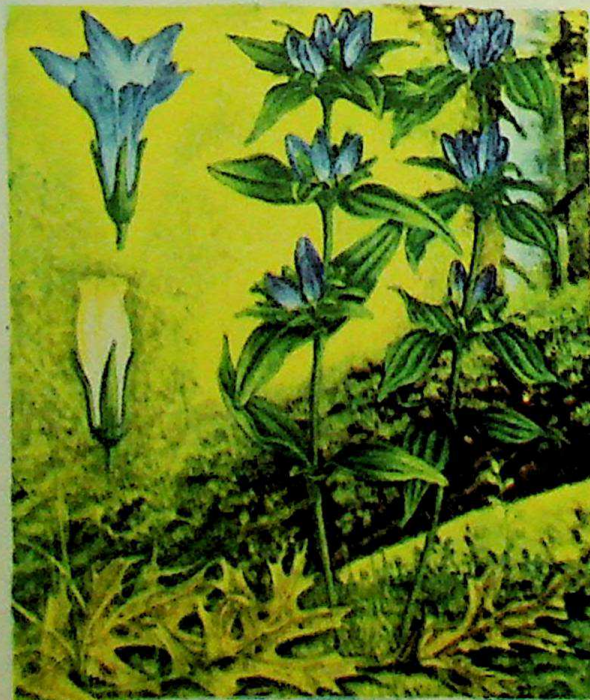
जंगलों और मैदानों में सैकड़ों तरह के फूल मिल जाएंगे। भारत की जलवायु कुछ ऐसी है कि यहां दुनिया के अधिकांश फूल बिना अधिक परिश्रम के ही उगाए जा सकते हैं। उत्तर में हिमालय से दक्षिण में समुद्र-तट तक यहां लगभग हर प्रकार की जलवायु मिलती है।

जेंशन

जवाहरात की नक्काशी (CAMEO) : जवाहरात की नक्काशी के लिए शिल्पकार को ऐसे कीमती पत्थर की आवश्यकता होती है, जिसमें दो रंगों की दो तहें हों। एक का रंग हलका और दूसरे का गहरा होना ज़रूरी है। हल्की तह में वह चित्र आंकता है, फिर वह इसकी शेष तह को काटकर अलग कर देता है। अब गहरे रंग की पृष्ठभूमि में हल्के रंग का चित्र उभरा रह जाता है।

जवाहरात की नक्काशी के नमूने

प्राचीन काल में इसका प्रयोग अंगूठियों और पिनों में जड़ने के लिए होता था। अब यह इतना लोकप्रिय नहीं है। कभी-कभी प्यालों, बर्तनों और मेज़-कुर्सियों पर भी इन्हें जड़ा जाता था। सबसे प्राचीन जवाहरात की नक्काशी का नमूना, आज से 2,000 से भी अधिक वर्ष पहले का, यूनान का है। (देखें : आभूषण)

जूते (SHOES) : पुराने जूतों का कोई रिकार्ड हमारे पास नहीं है। हम केवल कल्पना से ही कह सकते हैं कि उनकी शक्ल क्या रही होगी और वे किस चीज़ से बनते रहे होंगे। वे शायद जानवरों की खाल या चटाई या लकड़ी के होते थे, जैसे भारत में खड़ाऊं होती हैं। इन्हें बोलचाल की भाषा में खटपटिया भी कहा जाता है। आरम्भ में जूतों को बांधने का काम पट्टियों से लिया जाता था। ये पट्टियां खाल या सुतली की होती थीं।

आजकल हमारे जूते चमड़े के होते हैं। चमड़ा कमाया हुआ होता है। इसीलिए मज़बूत होता है। कुछ जूतों का ऊपर का हिस्सा रुई, नायलोन, प्लास्टिक, सिल्क आदि का होता है। सोल या तले रबड़, लकड़ी, या प्लास्टिक अथवा स्टील के भी होते हैं।

पहले जूते पैरों की हिफाज़त के लिए ही पहने जाते थे। बाद में वे शोभा के लिए भी पहने जाने लगे। यहां कुछ नये-पुराने जूतों के चित्र दिए गए हैं।

आजकल जूतों के जोड़े बिलकुल एक-से नहीं होते। एक दाएं पैर के लिए और दूसरा बाएं पैर के लिए बनाया जाता है। पहले दोनों पैरों के जूते एक से ही होते थे। आजकल भी जयपुर और जोधपुर आदि की जूतियां ऐसी ही बनती हैं। इनमें दायां-बायां कुछ नहीं होता। कोई भी जूती किसी भी पैर में पहनी जा सकती है। दाएं-बाएं जूते बनने कोई 150 साल पहले ही शुरू हुए हैं।

बहुत दिनों तक जूते हाथ से ही बनाए जाते थे। पहले हर परिवार अपने जूते खुद बनाता था। लेकिन बाद में गांव-भर के जूते कुछ ही लोग बनाने लगे। मध्ययुग में चमार गांवों के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे।

आज भी ऐसे चमार गांवों में मिलेंगे जो हाथ से बहुत बढ़िया जूते बनाते हैं। लेकिन ज़्यादातर जूते आजकल मशीनों द्वारा कारखानों में बनते हैं। ये मशीनें एक प्रकार से सिलाई की मशीनें हैं। सिलाई की मशीन का आविष्कार जूतों के उद्योग के लिए बड़ा लाभदायी सिद्ध हुआ। भारत में मद्रास, कलकत्ता, बम्बई, आगरा, कानपुर, फरीदाबाद में जूतों के बड़े-बड़े कारखाने हैं। (देखें : चमड़ा)

झलाई (SOLDERING) : धातु की दो वस्तुओं को जोड़ना झलाई कहलाता है। कभी जब धातु की बनी कोई चीज़ टूट जाती है, तो उसे भी इसी ढंग से जोड़ते हैं।
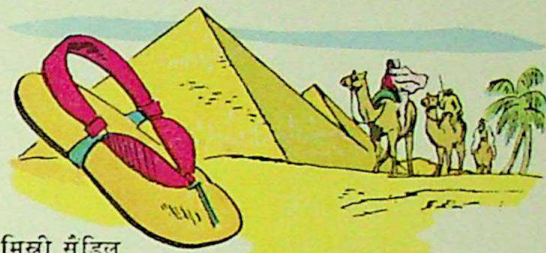
मिस्री सैंडिल
1450 ई० पू०

अंग्रेज़ी काकाऊ जूता
1400 ई०
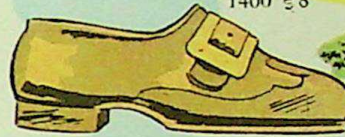
अमरीकी क्वेकर
1750 ई०
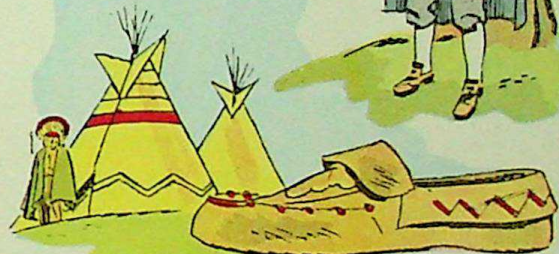
अमरीकी आदिवासियों का मृगचर्म का जूता

बटनोंवाला अमरीकी जूता 1880 ई०

बेलजियन जूता

चीनी महिलाओं का जूता

ऐलास्का के एस्कीमो लोगों का जूता

झलाई दो प्रकार की होती है, कच्ची और पक्की। कच्ची झलाई में वस्तु के फिर टूट जाने की आशंका रहती है, पक्की झलाई में वह कम हो जाती है। कच्ची झलाई के लिए कम गर्मी की और पक्की झलाई के लिए ज़्यादा गर्मी की आवश्यकता होती है।

झलाई करने के लिए कई धातुओं का मिश्रण तैयार किया जाता है। यह अपेक्षाकृत कम गर्मी पर पिघल जाता है। विभिन्न धातुओं की झलाई के लिए विभिन्न मिश्रणों की आवश्यकता होती है, क्योंकि विभिन्न धातुएं अलग-अलग गर्मी पर पिघलती हैं। जो धातु जितने डिग्री तापमान पर पिघलती है, उससे कम तापमान पर पिघलनेवाले मिश्रण का उसकी झलाई के लिए उपयोग किया जाता है।

जोड़ने के लिए किसी लाग की आवश्यकता होती है, जैसे सुहागा, राल, चरबी। विभिन्न धातुओं की झलाई के लिए लाग भी भिन्न होती है।

झलाई करने के लिए वस्तु को स्टोव या तांबे की कड़ाया पर गरम करते हैं। उपयुक्त ताप तक पहुंचने पर लाग की सहायता से मिश्रित धातु को उसपर रगड़ा जाता है। मिश्रित धातु गलकर उसपर फैल जाती है और उसे जोड़ देती है। फिर उसे ठंडा कर लिया जाता है।

टकसाल (MINT) : टकसाल उस कारखाने को कहते हैं जहां सिक्के बनाए जाते हैं। भारत में टकसाल का काम प्रायः रिज़र्व बैंक ऑव इण्डिया के सुपुर्द है। यह बैंक भारत सरकार की मुद्रा बनाता है।

सिक्के धातुओं के बनते हैं। सिक्के ढालने के लिए सबसे पहले धातु को पिघलाया जाता है और उसकी पतली-पतली लंबी छड़ें निकाली जाती हैं। ठंडा होने पर इन छड़ों को चौड़ाई और गोलाई में ठीक उस नाप का बना लिया जाता है जिस नाप के कि सिक्के बनाने होते हैं। इस प्रकार बनी हुई धातु की छड़ों से कोरी टिकियाएं तराश ली जाती हैं जो कि तैयारशुदा सिक्के के आकार-प्रकार की होती हैं। इस अवस्था में चांदी के सिक्कों के किनारे मशीन से चूड़ीदार बना दिए जाते हैं ताकि न तो वे जल्दी घिस सकें और न ही आसानी से नकली सिक्के बन सकें। अब इन कोरी टिकियाओं को एक मशीन में डाल दिया जाता है, जहां इनपर त्रिमुखी सिंह आदि विविध नमूनों तथा सन् और मूल्य की छाप लगा दी जाती है।

यह तसल्ली करने के लिए कि कोई दोषपूर्ण सिक्का टकसाल से बाहर न चला जाए सिक्कों को मशीन में डालकर प्रत्येक की तौल, मोटाई और नाप जांच ली जाती है। अंत में सिक्कों को गिन-तोलकर बेंक के हवाले कर दिया जाता है, जहां से उन्हें जन-साधारण में चलाने के लिए दे दिया जाता है।

भारत में हज़ारों वर्ष पहले सिक्कों का चलन आरम्भ हुआ था। तब सोने के सिक्के 'निष्क', चांदी के 'पण' तथा तांबे के 'कार्षापण' कहलाते थे।

टैपेस्ट्री (TAPESTRY) : मध्ययुग में यूरोप के किले और भवन बहुत ही निष्प्रभ और उदास होते थे। भीतर और बाहर की दीवारें पत्थरों की बनी होती थीं। न तो उनपर पलस्तर चढ़ा होता था, न रंग। यहां तक कि उन्हें

'यूनिकॉर्न'—मार्क एडम्स

'द लास्ट सपर'—राफेएल

पुनर्जागरण काल की और आधुनिक टैपेस्ट्री के दो अद्वितीय नमूने। इनमें राफेएल वाली टैपेस्ट्री 16वीं शताब्दी की और एडम्स वाली टैपेस्ट्री 20वीं शताब्दी की है।

कागज़ से भी नहीं ढका जाता था। लेकिन कुछ कमरों की दीवारें सुन्दर और आकर्षक लगती थीं, क्योंकि इन पर टैपेस्ट्रियां या पिछवइयां टंगी होती थीं। गिरजाघरों में भी टैपेस्ट्रियां टंगी होती थीं।

कमरों में टांगने के लिए टैपेस्ट्रियां खास तौर पर बुनी जाती थीं। मध्ययुगीन टैपेस्ट्रियों में तमाम तरह के चित्र और नमूने बुने होते थे। कुछ टैपेस्ट्रियों पर रोचक कथाओं का चित्रण होता था। कभी-कभी तो एक ही कथा कई टैपेस्ट्रियों पर पूरी होती थी।

टैपेस्ट्रियां ज़्यादातर ऊन या लिनन की बनती थीं। बीच-बीच में रेशम के धागे भी लगाए जाते थे। कभी-कभी इनपर सोने के तारों का भी काम होता था।

आज से कम से कम 3,000 वर्ष पूर्व मिस्र में टैपेस्ट्रियां बनती थीं। अन्य प्राचीन देशों में भी ये बनाई जाती थीं। मध्ययुग में सर्वोत्तम टैपेस्ट्रियां फ्रांस और फ्लांडर्स में बुनी जाती थीं।

आधुनिक काल में टैपेस्ट्रियां बनाने का काम एक तरह से बन्द ही हो गया। अब पुनः इस कला की ओर लोगों का ध्यान जा रहा है और फिर सुन्दर-सुन्दर टैपेस्ट्रियां बनने लगी हैं।
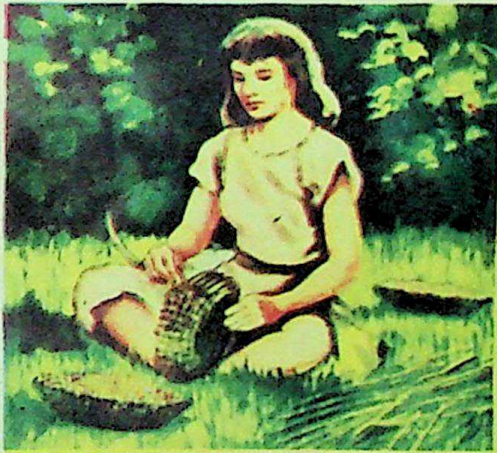
टोकरियां बहुत प्राचीन काल से बुनी जाती रही हैं।

टोकरी (BASKETS): टोकरी बनाना मनुष्य ने बहुत पहले सीख लिया था। मिस्र के रेगिस्तानों में अब से 6,000 वर्ष पहले बनी टोकरियां दबी मिली हैं। शुरू-शुरू में मनुष्य टोकरियां बस इसलिए बनाता था कि उनका कुछ न कुछ इस्तेमाल हो सके। बाद में उसने टोकरियों को तरह-तरह की सुन्दर-सुन्दर आकृति और डिज़ाइन देना भी शुरू कर दिया और आज तो टोकरी-निर्माण को हमारी सबसे सुन्दर और उपयोगी घरेलू कलाओं और उद्योगों में जगह मिल चुकी है।

प्राचीन काल में टोकरियां ऐसी बनाई जा सकती थीं कि उनमें पानी रखा जा सकता था। पुराने ज़माने में
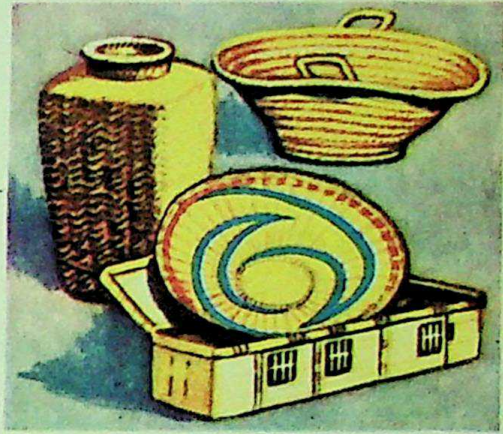
कैलिफोर्निया के आदिवासियों की टोकरियां

लोग इन टोकरियों में खाना भी बना लिया करते थे। ठीक है कि उन्हें आग पर नहीं रखा जा सकता था, पर लोग उनमें पानी के साथ पकाने का सामान रखकर उसमें गरम पत्थर डाल दिया करते थे।

टोकरियों में सामान तो रखा ही जाता है। उन्हें पालनों की भी शक्ल दी जा सकती है और बच्चों को उनमें झुलाया भी जा सकता है। उनसे टोप और टोपियां भी बनाई जाती हैं। उनसे चलनियों का काम लिया जाता है और उनसे मछलियां भी पकड़ी जाती हैं। और तो और, बड़ी टोकरियों से नावों का काम भी लिया जा सकता है।

टोकरी बनाने में बेंत, बांस की खपच्चियां, पेड़ों की छाल और जड़ें, पत्तियां, घास, कागज़ की लुगदी, धातुओं के तार आदि कितनी ही चीज़ें काम में लाई जा सकती हैं।

टोकरी बनाना शायद मनुष्य की उन उपलब्धियों में से है जिनपर कोई एक देश या जाति अपना दावा नहीं कर सकती—संसार के सभी देशों में टोकरियां बनाई जाती हैं और इस्तेमाल की जाती हैं।

टोकरियों से कई तरह के काम लिए जाते हैं।

विभिन्न देशों में प्रचलित टोपी,
टोप और पगड़ी के कुछ प्रकार

टोपी (CAPS) : टोपी लोग दो कारणों से पहनते हैं। एक तो धूप, हवा और पानी से सिर की रक्षा के लिए, दूसरे समय के अनुसार फैशन या रीति-रिवाज की आवश्यकता पूरी करने के लिए। लेकिन अब लोग नंगे सिर रहना अधिक पसंद करते हैं। ठंडे देशों में भी यही हाल है। कुछ नौकरियों में टोपी वर्दी का अंग होती है, जैसे पुलिस, अग्नि-शमन सेवा, सैनिक सेवा, नौसेना, वायुसेना आदि।

भारत में कुछ लोग पगड़ी बांधते हैं। कुछ लोग फर की टोपियां भी पहनते हैं। गांधी टोपी न केवल प्रसिद्ध है, बल्कि लोकप्रिय भी है।

डिपार्टमेंट स्टोर (DEPARTMENT STORES) : चॉकलेट, बिस्कुट, पुस्तकें, सिले-सिलाए कपड़े, कपड़े धोने की मशीन, खिलौने, कपड़ों के थान, रेशम, कुर्सी, टेबिल, गहने, चीनी मिट्टी के बर्तन, ये सभी और सैकड़ों अन्य चीज़ें किसी आधुनिक डिपार्टमेंट स्टोर में खरीदी जा सकती हैं। विदेशों में और हमारे देश के कुछ बड़े शहरों में इस प्रकार के स्टोर हैं। इन स्टोरों में ग्राहक अपनी ज़रूरत की हर चीज खरीद सकता है। डिपार्टमेंट स्टोर कई 'डिपार्टमेंट' (विभाग) या दूकानों से मिलकर बनी एक बड़ी भारी आधुनिक दूकान के रूप में होता है।

डिपार्टमेंट स्टोर का एक विभाग

डिपार्टमेंट स्टोर में सभी तरह की चीज़ें बिकती हैं।

एक आधुनिक डेरीफार्म का दृश्य

डेरी का काम (DAIRYING) : संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के जानवर दूध देने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इनमें से कुछ हैं : गाय, भैंस, बकरी, भेड़, ऊंट, लामा, रेंडियर और याक। लेकिन सारे संसार में गाय ही दूध देनेवाले जानवर के रूप में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। गायों की देखभाल और बड़े पैमाने पर दूध निकालने के काम को डेरी का काम या दुग्ध-उद्योग कहते हैं। दूध की मात्रा का भी बड़ा महत्त्व होता है। कुछ गायों के दूध में चिकनाई की मात्रा अधिक होती है। ये गायें बड़ी कीमती मानी जाती हैं। हमारे देश में चिकनाई की दृष्टि से भैंस का दूध पसन्द किया जाता है।

आजकल मशीनों की सहायता से डेरी का काम बहुत आसान कर लिया गया है। एक अच्छे डेरी फार्म में दूध दूहने, दूध में से क्रीम निकालने और दूध को ठंडा करने से मक्खन, क्रीम, पनीर आदि तैयार करना भी दुग्ध-उद्योग में ही सम्मिलित है।
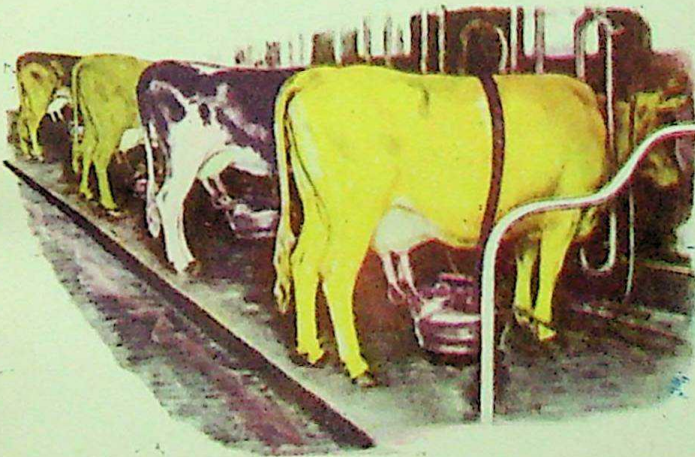
दूहने की मशीन पांच मिनट में एक गाय दूह सकती है।

दूध के ट्रक विशाल थरमस बोतलों की तरह होते हैं।

संसार के लगभग सभी देशों में बड़े-बड़े नगरों के आसपास डेरी का काम करनेवाले बड़े-बड़े डेरी फार्म होते हैं, जहां गायों और अन्य दूध देनेवाले पशुओं को पाला जाता है। अच्छे डेरी फार्म उन्हीं क्षेत्रों में होते हैं जहां पशुओं के लिए खूब चारा मिलता है और लम्बे-चौड़े चरागाह होते हैं। भारत में बम्बई के समीप आरे और अहमदाबाद के समीप आणन्द की डेरियां सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

डेरी के पशुओं की बराबर जांच की जाती है और उन्हें स्वस्थ रखा जाता है। प्रतिदिन प्रत्येक गाय कितना दूध देती है इसका हिसाब रखा जाता है। दूध में चिकनाई

डेरी से बाहर भेजने से पहले दूध की अच्छी तरह परीक्षा कर ली जाती है।

दूहने की मशीन
पनीर
BUTTER
मक्खन
दूध
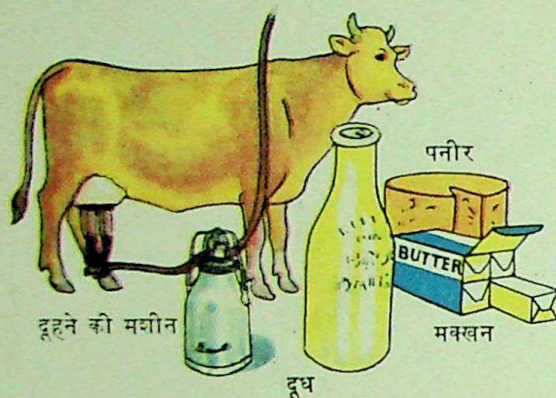
की मशीनों के अलावा, पशुओं के लिए चारे की खेती के लिए खेतीबारी की मशीनें और दूध पहुंचाने के लिए लारियां भी होती हैं।

तंबाकू (TOBACCO) : तंबाकू अमरीकी पौधा है। जब प्राचीन अन्वेषक अमरीका पहुंचे तो उन्होंने इंडियन आदि-वासियों को तंबाकू पीते देखा। इससे पहले अन्य देशों को तंबाकू के बारे में कुछ पता नहीं था। आज इसकी गिनती दुनिया की सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रचुर मात्रा में पैदा होने वाली फसलों में की जाती है।

तंबाकू से सिगार, सिगरेट, पाइप का तंबाकू और नसवार आदि चीज़ें बनाई जाती हैं। किसी ज़माने में नसवार लेना फैशन समझा जाता था। लेकिन आज सिगरेट की लोकप्रियता सबसे अधिक है।

तंबाकू के बीज छोटे और काले होते हैं। वसंत के आरंभिक दिनों में उन्हें सुरक्षित क्यारियों में बो दिया जाता है। जब पौधे कई इंच लंबे हो जाते हैं तो उन्हें वहां से उखाड़कर खेत में लगा दिया जाता है। पौधों के ऊपरी हिस्सों को काट दिया जाता है ताकि पत्तियां लंबी हो सकें।

इसके बाद तंबाकू की पत्तियों को काट लिया जाता है और उन्हें सूखने के लिए खलिहान में लटका दिया जाता है। तंबाकू का खलिहान दूसरे प्रकार के खलिहान से कुछ अलग होता है। तंबाकू का खलिहान बहुत खुला होता है। उसमें हवा आने की भी गुंजाइश रखी जाती है। प्रायः पत्तियों को सुखाने के लिए आग जलाकर गर्मी पहुंचाई जाती है।

तंबाकू में निकोटीन और कुछ दूसरे हानिकारक पदार्थ मिले होते हैं। निकोटीन तंबाकू पीनेवालों को हानि पहुं-चाता है। इससे फेफड़ों का कैंसर हो सकता है।

दुनिया में सबसे अधिक तंबाकू अमरीका में पैदा होता है। वहां के उत्तरी कैरोलिना, वर्जीनिया और जॉर्जिया आदि दक्षिण-पूर्वी राज्य तंबाकू की खेती के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। अनेक गर्म देशों में भी तंबाकू की खेती की जाती है। इन देशों में रोडेशिया, दक्षिणी अफ्रीका, भारत, जापान और तुर्की प्रमुख हैं। सिगार बनाने का सबसे उम्दा तंबाकू क्यूबा में पैदा होता है।

भारत में लोग तंबाकू का जर्दा वगैरह बनाकर उसे पान में डालकर खाते हैं। तंबाकू में तरह-तरह की सुगंधों का इस्तेमाल करके किमाम और मसाले वगैरह बनाए जाते हैं। इस देश में गरीब लोगों में सिगरेट से भी अधिक लोकप्रिय बीड़ी है। बीड़ी के लिए तेंदू आदि पेड़ों की पत्तियों का प्रयोग होता है। इन्हें सुखाकर इनके अंदर तंबाकू भर लिया जाता है। बीड़ी सिगरेट के मुकाबले बहुत सस्ती

अमरीकी आदिवासी तंबाकू पीते हुए
खलिहान
तंबाकू सुखाना
सिगार
पाइप का तंबाकू
सिगरेट
तंबाकू की पत्तियां
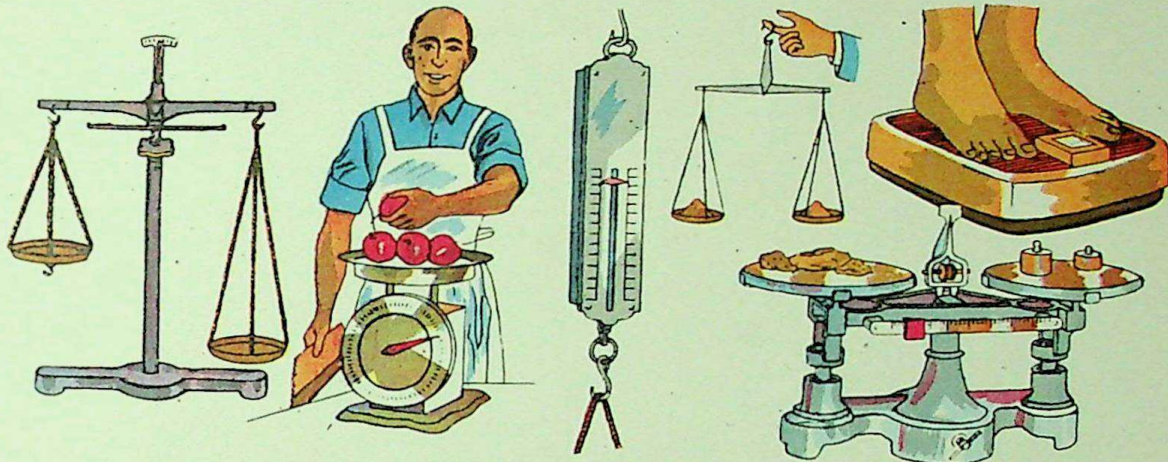
विभिन्न प्रकार की तराज़ुए

होती है। तंबाकू में शीरा मिलाकर हुक्के में पीने का तंबाकू बनाया जाता है। बहुत-से लोग तंबाकू के चूरे को निचले होंठ के नीचे रखकर उसका रस लेते रहते हैं। इस तंबाकू को सुरती कहते हैं। भारत में प्रायः स्त्रियां सिगरेट आदि नहीं पीतीं। लेकिन पान में तंबाकू या सुरती खानेवाली अनेक स्त्रियां मिल जाएंगी। गांवों में और पहाड़ी स्थानों में अनेक स्त्रियां बीड़ी-सिगरेट आदि भी पीती हैं।

तराज़ू और तौल (SCALES AND WEIGHING) : हम चीनी किलो में खरीदते हैं, कोयला क्विंटल में और कीमती वस्तुएं ग्राम में। तोलने के लिए तुला या तराज़ू का उपयोग किया जाता है।

दो पलड़ों वाली तराज़ू से तोलना बड़ा सरल है। एक किलो मिठाई तोलनी हो तो एक पलड़े में मिठाई और दूसरे में एक किलोग्राम का बाट रख देंगे। जब दोनों पलड़े सन्तुलित हो जाएंगे, तो एक किलो मिठाई तुल जाएगी।

लेकिन सामान से लदे ट्रक को साधारण तराज़ू से नहीं तोला जा सकता। भारी चीज़ों को तोलने के लिए यंत्र होते हैं, जिनमें एक किलोग्राम के लीवर द्वारा एक हज़ार किलोग्राम तक का वज़न तोल लिया जाता है।

कुछ तरह की तराज़ुओं में बाट काम में ही नहीं लाए जाते। स्प्रिंग या लीवर एक सूई को डायल पर घुमाते हैं और सूई से वज़न का पता लग जाता है।

कुछ तराज़ुएं बड़ी नाज़ुक होती हैं। यदि कागज़ के एक टुकड़े को ऐसी तराज़ू में रखकर तोला जाए और फिर उस कागज़ पर एक शब्द लिखकर कागज़ को फिर तोला जाए तो उस एक शब्द की स्याही के कारण बढ़ा हुआ वज़न मालूम किया जा सकता है।

कुछ तराज़ुओं से तोलने के अलावा क़ीमतों का हिसाब भी लगाया जाता है। मान लीजिए कोई आदमी तीन रुपये किलो सेब बेच रहा है। उसने अपनी तराज़ू की मशीन पर यह भाव लगा दिया। अब अगर वह चार किलो सेब तोलेगा तो तुरन्त उस तराज़ू पर कीमत दिखाने के स्थान पर बारह रुपये आ जाएंगे। (देखें : बाट और पैमाने)

तारपीन (TURPENTINE) : तारपीन एक पतला रंगहीन द्रव है। तारपीन की एक विशेष तेज़ गंध होती है जो दूसरे पदार्थों में नहीं होती।

तारपीन कुछ किस्मों के चीड़ के पेड़ों के रस से बनाया जाता है। चीड़ के जिन पेड़ों से तारपीन निकाला जाता है वे अमरीका के दक्षिण-पूर्वी प्रदेशों में बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। दुनिया का आधे से अधिक तारपीन इन्हीं प्रदेशों में तैयार किया जाता है।

एक खास किस्म के औज़ार से पेड़ की कुछ छाल काट दी जाती है। इस स्थान पर एक छोटा डिब्बा लटका

तारपीन कई किस्म के चीड़ के पेड़ों से प्राप्त होता है।

दिया जाता है। कटे हुए स्थान पर से एक प्रकार का रस टपक-टपककर डिब्बे में भरता रहता है।

इस रस को उबालकर तारपीन निकाला जाता है जिसे प्रायः 'तारपीन का तेल' के नाम से जाना जाता है। इसी रस से टार, बिरोजा, तारपीन, स्पिरिट आदि पदार्थ प्राप्त किए जाते हैं।

तारपीन के अनेक उपयोग हैं। रोगन और वार्निश को हल्का करने में इसका उपयोग सबसे अधिक होता है। रोगन को छुड़ाने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। कुछ दवाइयों और प्लास्टिक के निर्माण में भी तारपीन का प्रयोग होता है।

तारपीन बहुत जल्दी आग पकड़ता है। इसके प्रयोग में और इसका स्टोर रखने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। (देखें : रोगन)

तिल (SESAME) : हमारे घरों में तिल के तेल का प्रयोग साग-सब्ज़ी बनाने और पूरियां तलने में किया जाता है। इसके लड्डू, रेवड़ियां, गजक आदि बनते हैं। कुछ लोग इसका तेल सिर में डालते हैं।

तिल की खेती संसार के प्रायः सभी गर्म प्रदेशों में होती है। भारत में विश्व के एक-तिहाई तिल की पैदावार होती है। तिल का पौधा दो से चार फुट तक ऊंचा होता है। इसकी पत्तियां लम्बी और नुकीली होती हैं। इसके दानों का रंग सफेद, भूरा या काला होता है।

तिल के तेल का प्रयोग साबुन, दवाएं, मार्जरीन तथा इत्र बनाने में भी होता है। (देखें : तिलहन)

तिलहन (OILSEEDS) : मनुष्य-जीवन के लिए तेल अत्यावश्यक वस्तु है। इसमें खाद्य-पदार्थ पकाए जाते हैं, इसे सिर में डाला जाता है, कल-पुर्ज़ों को चलाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। जिन बीजों से तेल प्राप्त होता है, उन्हें तिलहन कहते हैं।

भारत में जिन बीजों से तेल निकाला जाता है, वे हैं सरसों, तिल, अलसी, महुआ, बिनौला, मूंगफली, अंडी आदि। नारियल से भी तेल निकाला जाता है। विदेशों में तेल निकालने के प्रमुख साधन हैं सोयाबीन, सूर्यमुखी, पाम, करनल इत्यादि।

उत्तर भारत में सरसों का तेल सबसे ज़्यादा प्रचलित है। सरसों कई प्रकार की होती है : सफेद, पीली, भूरी, काली इत्यादि। राई भी सरसों का ही एक प्रकार है, पर इसका दाना छोटा होता है। सरसों में से लगभग 30 प्रतिशत तेल निकलता है। जो सूखा भाग बच जाता है, उसे खली कहते हैं और पशुओं को खिलाते हैं।

तिल के तेल का प्रचार दक्षिण भारत में अधिक है। तिल के भी अनेक रंग होते हैं : सफेद, पीला, भूरा तथा काला। तिल के लड्डू, रेवड़ियां, गजक आदि बनते हैं। तेल का प्रयोग खाने-पकाने, केश-तेल बनाने और दवाओं में करते हैं।

अलसी के बीज में तेल की मात्रा अधिक होती है। यह राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में पैदा होती है। इसका तेल खाने के काम नहीं आता। इससे पेंट, वार्निश, स्याही, मोमजामा इत्यादि बनाते हैं।

महुआ में तेल की मात्रा और भी ज़्यादा होती है। इसके तेल से दवाएं तथा साबुन बनाते हैं। इसकी खली ज़हरीली होती है, इसलिए उसे पशुओं को नहीं खिलाते।

कपास से रुई निकाल लेने के बाद जो बीज बच रहता है, उसे बिनौला कहते हैं। यह काला और सख्त होता है। इसके तेल का उपयोग वनस्पति तेल, साबुन तथा मार्जरीन बनाने में करते हैं।

मूंगफली बीज के रूप में कच्ची या भूनकर तो खाई ही जाती है, इसका तेल भी निकालते हैं। तेल का प्रयोग खाने और वनस्पति तेल तथा साबुन बनाने में किया जाता है। इसकी खली का प्रयोग खाद के रूप में किया जाता है।

अंडी के बीज में लगभग आधा तेल होता है। इसका उपयोग जलाने तथा दवाएं बनाने में होता है। खली खाद के रूप में खेतों में डाली जाती है।

सोयाबीन चीन, कोरिया, मंचूरिया, अमरीका, अफ्रीका तथा यूरोप में होता है। इसमें फलियां निकलती हैं जिनमें बीज होते हैं। बीज खाए भी जाते हैं और उनसे तेल भी निकाला जाता है।

तूसो, मादाम मेरी (MADAME MARIE TUSSAUD 1760-1850) : लंदन जानेवाले लोग मादाम तूसो की प्रदर्शनी देखने बड़े शौक से जाते हैं। कई बार ऐसा होता है कि यात्री वहां तैनात पहरेदारों से, जो प्रदर्शनी की अन्य आकृतियों की तरह मोम के बने हैं, कुछ पूछने लगते हैं।

मोम की मूर्तियां
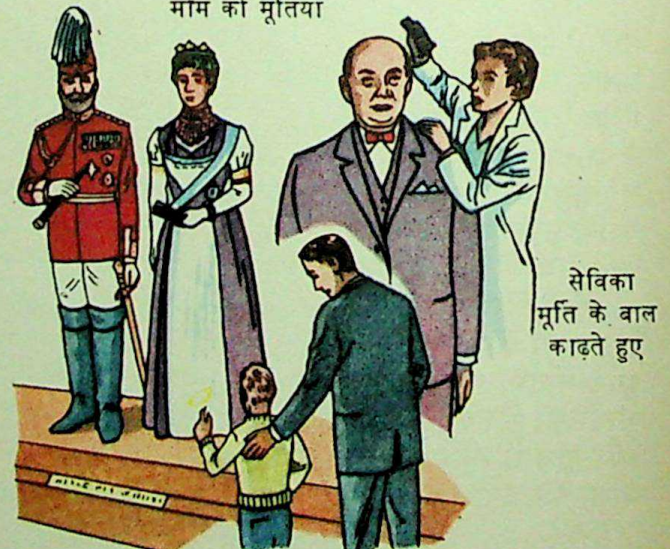
सेविका मूर्ति के बाल काढ़ते हुए
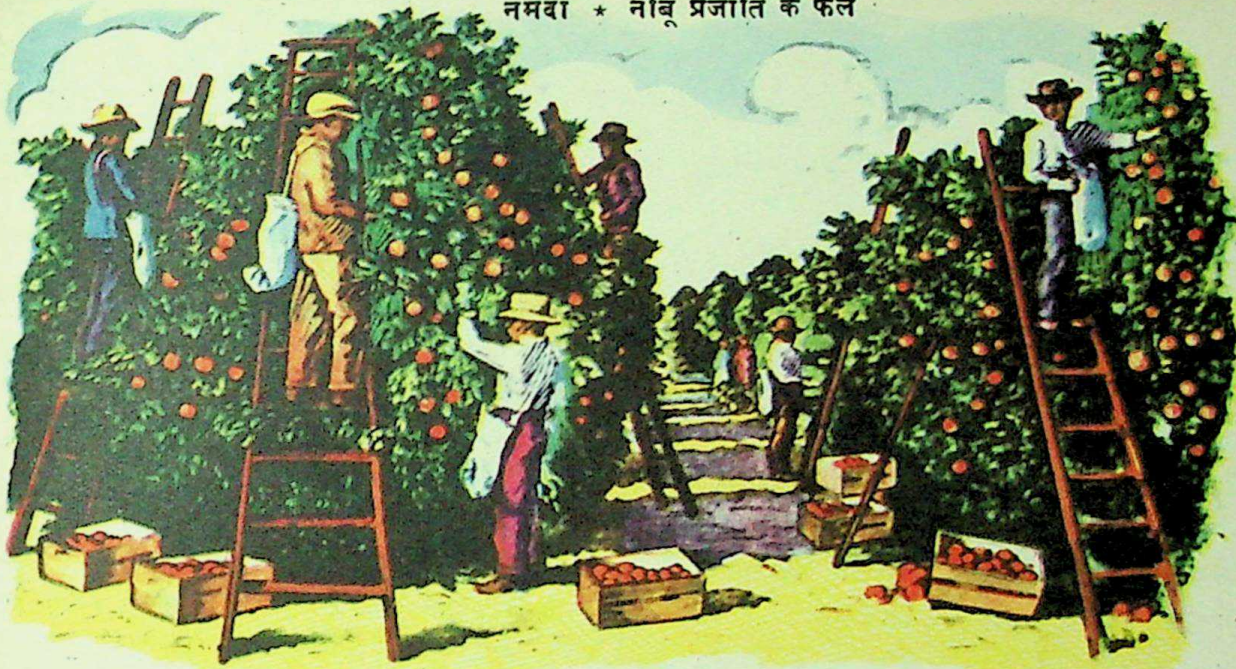
नारंगी के बगीचे का एक दृश्य

यह इस बात का प्रमाण है कि ये आकृतियां कितनी सजीव हैं। मादाम तूसो की इस प्रदर्शनी में अतीत और वर्तमान काल के प्रसिद्ध लोगों की मोम की बनी हुई आदमकद मूर्तियां हैं। मूर्तियों को कपड़े भी वैसे ही पहनाए गए हैं जैसेकि वे लोग पहनते थे।

मादाम तूसो का जन्म स्विट्ज़रलैंड में हुआ था। युवावस्था में वे पेरिस गईं। उनके चाचा का मोम का एक संग्रहालय था। वहां उन्होंने मोम की मूर्तियां बनाना सीखा। वहां से वे लंदन आईं और सन् 1802 में उन्होंने अपनी प्रदर्शनी का आयोजन किया।

मादाम तूसो के इस संग्रहालय का एक विशेष भाग 'चैम्बर ऑव हॉरर्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इस भाग में भूतकाल में घटित अपराधों के दृश्य और मूर्तियां हैं।

नमदा (FELT) : नमदा उस मोटे कपड़े को कहते हैं जिसका उपयोग गर्मी, कंपन या ध्वनि को कम करने में किया जाता है। जैसे, रेल और जहाज़ की छतें बनाने में इसका उपयोग किया जाता है। यदि उनमें नमदा लगाया न जाए तो उनके चलने पर यात्रियों को इतने ज़्यादा धक्के लगें कि उनकी हड्डी-पसली चूर-चूर हो जाए। मोटरों में भी इसका उपयोग किया जाता है।

टोपियों और कोटों के भीतर भी नमदा लगाया जाता है। बाजों के बनाने में नमदे का प्रयोग किया जाता है। इससे धातुओं पर पालिश की जाती है और चटकनेवाली चीज़ों की पैकिंग की जाती है। नमदा प्राकृतिक होता है और हाथ से भी बुना जाता है। इसको बनाने में ऊन, बाल, रेशे तथा फर का प्रयोग किया जाता है।

नीबू प्रजाति के फल (CITRUS FRUITS) : नीबू, नारंगी, गलगल, ग्रेपफ्रूट, चकोतरे, आदि नीबू प्रजाति के फल (सिट्रस फल) कहलाते हैं। इनका छिलका मोटा होता है। गूदा रसीला होता है और फांकों में बंटा होता है। इन फलों में नारंगी सबसे अधिक पसंद की जाती है।

नीबू प्रजाति के कुछ फल आसानी से छिल जाते हैं और वैसे ही खाए जाते हैं। कुछ का रस निकाला जाता है। कुछ का मुरब्बा बनाया जाता है। कुछ में बीज नहीं होते। इन फलों में विटामिन 'सी' होता है। वह स्कर्वी नामक रोग को रोकता है।

कुमक्वैट नारंगी चकोतरा टैंगेरीन नीबू खट्टा नीबू
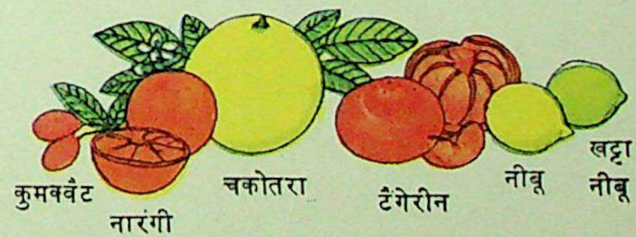
नारंगी का बगीचा देखने में अच्छा लगता है। पत्तियां चमकती हैं। इसके सफेद फूलों की सुगंध दूर-दूर तक पहुंचती है। ग्रेपफ्रूट के वृक्ष सुन्दर होते हैं। इसके फल अंगूरों की भांति गुच्छों में आते हैं। वे केवल सुन्दरता के लिए भी उगाए जा सकते हैं।

इन फलों के पूर्वज दक्षिण एशिया के जंगलों में उगते थे। वहां से वे यूरोप और अमरीका में फैले। नीबू प्रजाति के फलों को मिलाकर नई जातियां बनाई गई हैं।

ठंडी जलवायु इन फलों के लिए अच्छी नहीं होती।

जब पाले का खतरा होता है तो इन बगीचों में आग जलाई जाती है। वृक्षों के चारों ओर इकट्ठा धुआं उनकी रक्षा करता है। ये फल ठंडक में वर्ष-भर रखे जा सकते हैं। इसके लिए इन्हें पूरा पकने से पहले ही तोड़ लिया जाता है।

क्रेन से पत्थर के खंड ऊपर उठाए जा रहे हैं।

संगमरमर की खान का भीतरी दृश्य

पत्थर की खान (QUARRY) : इमारतों के लिए बड़े-बड़े पत्थरों की आवश्यकता पड़ती है। ये पत्थर पत्थर की खानों से आते हैं। कोयले, लोहे आदि की तरह पत्थर की भी खानें होती हैं। ग्रेनाइट और संगमरमर इसी तरह खोद कर निकाले जाते हैं। चूना, स्लेट और बलुआ पत्थर तो आसानी से निकल आता है, क्योंकि इनकी परतें होती हैं। इनको पत्थर तोड़ने की मशीनों से, जिन्हें ड्रिल कहते हैं, बड़े-बड़े टुकड़ों में आसानी से तोड़ लिया जाता है। लेकिन ग्रेनाइट और संगमरमर को खण्डों में चट्टान से काटना पड़ता है, जो कठिन भी होता है और श्रमसाध्य भी।

पत्थर के छोटे टुकड़े इमारतें बनाने के काम में नहीं आते। वे सड़कें बनाने के काम आते हैं या रेलवे लाइनों के नीचे बिछाए जाते हैं।

पत्थर खोदकर निकालने का काम बड़ा पुराना है। मिस्र में असवान के पास चार हज़ार से भी अधिक वर्षों से पत्थर खोदकर निकाला जाता रहा है।

पुराने ज़माने में भारी पत्थरों को हटाना एक कठिन समस्या थी। फिर भी खूफू के पिरामिड के लिए लाखों क्विंटल पत्थर ढोए गए थे। आजकल भारी पत्थर हटाने के लिए बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग किया जाता है।

पनचक्की (WATER WHEELS) : आज से हज़ारों साल पहले लोगों ने नदियों और झरनों के पानी को अपने काम में लाना सीख लिया था। नदी और झरने के पानी से वे

नदी का पानी ऊपर से बाल्टियों में गिरता है और चक्के को घुमाता है।

पनचक्कियां चलाते थे। फिर इन पनचक्कियों से दूसरी मशीनें चलती थीं।

चित्र में दो पुराने ढंग की पनचक्कियां दिखाई गई हैं। एक के किनारे पर पैडल लगे हुए हैं। दूसरी में बाल्टियां लगी हैं। पैडल वाली पनचक्की के नीचे पानी बह रहा

नीचे से चलनेवाली पनचक्की
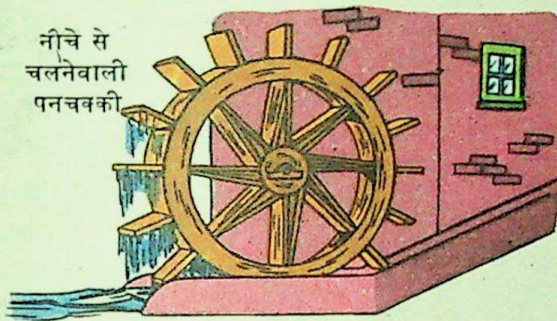
पानी नीचे से पैडलों को ठेलता है।

है। पानी पैडलों से टकराकर चक्के को चलाता है। बाल्टी वाली पनचक्की में पानी ऊपर से गिर रहा है। पानी चक्के के ऊपरी भाग तक एक नाली द्वारा पहुंचाया गया है। वहां से वह क्रमशः बाल्टियों में भरता जाता है। पानी के भरने से बाल्टियां भारी होकर नीचे को जाती हैं और इस प्रकार चक्का घूमता है। नीचे पहुंचकर बाल्टियां उलटकर खाली हो जाती हैं और फिर क्रमशः ऊपर आती हैं। सदियों पहले पनचक्कियों द्वारा कारखानों में पत्थर की बड़ी-बड़ी चक्कियां चलाई जाती थीं।

आजकल अधिकतर पनचक्कियों को टरबाइनों के रूप में काम में लाया जाता है। टरबाइन में एक या अनेक पनचक्कियां लगी होती हैं, जो एक खोल में बन्द रहती हैं। हर चक्के में अनेक ब्लेड लगे होते हैं। पानी बहकर टरबाइन में आता है और ब्लेडों से टकराकर चक्के या चक्कों को घुमाता है।

टरबाइन का सबसे महत्त्वपूर्ण उपयोग बिजलीघरों में होता है। इनमें टरबाइनों से बिजली के जेनरेटर चलाए जाते हैं। पानी के टरबाइनों से चलनेवाले बिजलीघरों को जलविद्युत् केन्द्र कहते हैं। आज नदियों और झरनों के पास अनेक बिजलीघर बन गए हैं।

पवन-चक्की (WINDMILL) : शताब्दियों पहले मनुष्य ने हवा से काम लेना सीखा था। पवन-चक्की में एक बड़ा चक्का होता है और उसमें पंखे लगे होते हैं। इसे काफी ऊंचाई पर लगाया जाता है ताकि पंखों पर हवा लग सके। हवा पंखों को घुमाती है और उनसे जुड़ी हुई छड़ चक्के को चलाती है। चक्के के चलने से उससे जुड़ी मशीन चलती है। यह मशीन पम्प हो सकता है, आटे की चक्की हो सकती है, बिजली का छोटा जेनरेटर हो सकता है।

हवा सदा एक ही दिशा में नहीं बहती। अतः पवन-चक्की में कोई ऐसी व्यवस्था करनी होती है जिससे वह हवा की दिशा में मोड़ी जा सके, ताकि हवा उससे सीधी टकराए। कभी इसके लिए पंखे लगाए जाते हैं और कभी एक दूसरी छोटी पवन-चक्की लगाई जाती है जो बड़े चक्के को ठीक ढंग से घुमा देती है।

नीदरलैंड अपनी पवन-चक्कियों के लिए कभी बड़ा मशहूर था। इसका अधिकांश धरातल समुद्रतल से नीचा है। इसलिए पानी उलीचने के लिए पम्प चलाने की

पवन-चक्की की किस्में

अमरीकी डच मिस्री

आवश्यकता होती थी, ताकि पानी भरने से बाढ़ न आ जाए। बहुत समय तक यह काम पवन-चक्कियों द्वारा होता रहा। आज उनका स्थान बिजली की मोटरों, और डीज़ल के इंजनों ने ले लिया है। इसका कारण यह है कि पवन-चक्की तभी चल सकती थी जब कि हवा चल रही हो। आधुनिक मशीनें हर हालत में काम कर सकती हैं।

पालतू जानवर, कामकाज के (DOMESTICATED ANIMALS) : किसीको भी यह पता नहीं कि सबसे पहले यह खोज किसने की कि जंगली जानवरों को पालतू भी बनाया जा सकता है। हमें इतना मालूम है कि इस बात का पता आदमी को उस समय लगा था जब उसने पत्थरों के औज़ार बनाना शुरू किया। जब मनुष्य ने जानवरों को पालना शुरू किया तभी उसने पेड़-पौधों को पालना भी शुरू किया। जानवरों और पेड़-पौधों को पालना कई कारणों से महत्त्वपूर्ण था। अब लोगों के लिए अपना अधिकांश समय भोजन और शिकार की खोज में बिताना ज़रूरी नहीं रहा।

लेकिन लोग जानवरों को सिर्फ खाने के लिए ही नहीं पालते थे। ऊंट, घोड़े, गधे, लामा आदि जानवर सामान ढोने के लिए पाले जाने लगे। लेकिन यह भी सच है कि मनुष्य ने सबसे पहले जानवरों को मारकर खाने के लिए

ही पाला। भेड़-बकरी ग्रादि कुछ ऐसे जानवर भी थे, जिनका मांस खाने के ग्रलावा जिनकी खालों ग्रौर ऊन का भी उपयोग किया जा सकता था।

पालतू जानवर, शौक के (PETS) : ग्रधिकांश जानवरों को इसलिए पाला जाता है कि उनसे व्यावसायिक लाभ हो। लेकिन कुछ जानवर किसी काम के लिए नहीं, बल्कि शौकिया पाले जाते हैं। ऐसे जानवरों में मेमनों, रंग-बिरंगी मछलियों, हैमस्टर, तोतों ग्रादि के नाम लिए जा सकते हैं। कुत्ते ग्रौर बिल्ली तो ऐसे पालतू जानवरों में सबसे मुख्य हैं।

जिस जानवर को आप पालना चाहते हैं उसे बड़ी सावधानी से चुनना चाहिए। साथ वाले चित्र में कुछ ऐसे भी जानवर हैं जिन्हें हममें से कोई भी शायद न पालना चाहे। शोर मचाने वाला जानवर पड़ोसियों के लिए सिरदर्द बन सकता है।

इसके ग्रलावा, जानवर की सुविधा का भी ध्यान रखना चाहिए। कोई भी जानवर तब तक ग्राराम से नहीं

विभिन्न देशों के पालतू जानवर

हाथी
ऊंट
भैंसा
लामा
याक
टट्टू
भेड़
रेंडियर
शिकारी कुत्ता
गाय
सूअर
काम करनेवाला कुत्ता
गधा
बकरी
पनकौआ
खच्चर
बिल्ली
खरगोश
मुर्गा
गिनी मुर्गी
बत्तख

लम्बी पूंछ वाला मुर्गा
गधा
चीता
कबूतर
मोर
लड़नेवाले मुर्गे
गिलहरी
बंदर
तोता
कौआ
सेमॉयड कुत्ता
अंगोरा बिल्ली
केनरी
स्यामी बिल्ली
स्पेनियल कुत्ता
जेरबोआ
रंगीन मछलियां
कछुआ
खरगोश
नाचनेवाला भालू
झींगुर
गिनीपिग

रह सकता जब तक उसको अपने ढंग का खाना और आराम से रहने की जगह नहीं मिलती। कोले, छोटे भालुओं के बच्चों की तरह के होते हैं। उनके घुंघराले झबरीले बाल बड़े अच्छे लगते हैं। लेकिन वे यूकलिप्टस की पत्तियां खाते हैं। इसलिए जब हम किसी जानवर को शौकिया पालना चाहें तो हमें उसके बारे में सभी जरूरी बातें जान लेनी चाहिए।

अधिकांश लोग ऐसे जानवर पालते हैं जिनसे वे जब-तब
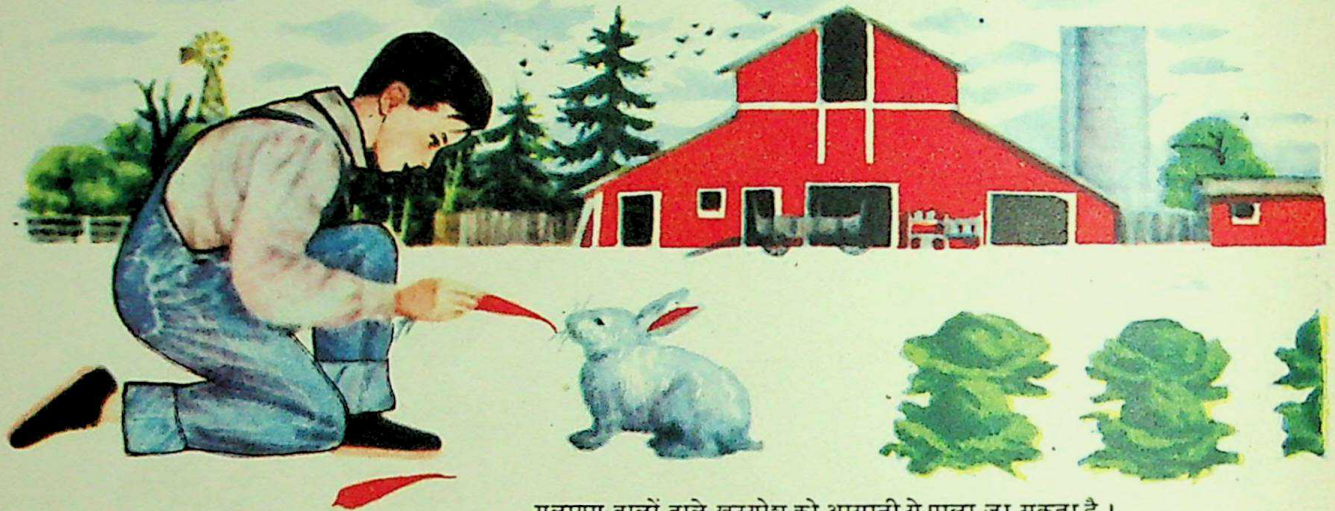
मुलायम बालों वाले खरगोश को आसानी से पाला जा सकता है।

खेल सकें। इस मामले में कुत्ते-बिल्लियां बहुत ठीक हैं। रंग-बिरंगी मछलियां रखना ग्रासान है, लेकिन उनसे खेला नहीं जा सकता। छोटे बालों वाले कुत्ते शहरों में पालने के लिए ग्रच्छे होते हैं। शहरों में किसी भी किस्म की बिल्ली पाली जा सकती है। लेकिन छोटे बालों वाली बिल्ली की देख-भाल बड़े बालों वाली बिल्ली की ग्रपेक्षा ग्रासानी से की जा सकती है।

जो जानवर शौकिया पाले जाते हैं, उनके भी फैशन होते हैं ग्रौर ये फैशन बदलते रहते हैं। पालतू जानवरों को बहुधा जूंएं, कीड़े, लीखें, ग्रादि तंग करती हैं। इसलिए जानवरों की ग्रच्छी देखभाल में यह भी शामिल है कि ऐसे कीड़े-मकोड़े ग्रापके जानवरों को तंग न करें। यदि ग्रापका जानवर बीमार पड़ जाए तो डाक्टर को तुरन्त दिखाना चाहिए।

पेंसिल (LEAD PENCILS) : पेंसिल ग्रब हमारे लिए एक बहुत ज़रूरी चीज़ हो गई है। पेंसिल के ग्रभाव में हम कलम से लिख सकते हैं, जैसाकि हज़ारों साल से लोग लिखते चले ग्राए हैं। लेकिन एक तो पेंसिल से लिखते हुए किसी तरह की ग्रावाज़ नहीं होती, दूसरे इसके निशान को ग्रासानी से मिटाया भी जा सकता है।

कागज़ की पेंसिल के भीतर जो पतली सींक होती है वह ग्रैफाइट की बनी होती है जिसमें मिट्टी मिली रहती है।

पेंसिल की सींक जितनी ही नरम होगी कागज़ पर उतना ही मोटा ग्रौर भोथरा निशान पड़ेगा। कड़ी पेंसिल से पतला निशान बनेगा। कड़ी पेंसिल की सींक में नरम पेंसिल की ग्रपेक्षा ग्रधिक मिट्टी मिली होती है।

पेंसिल बनाने के लिए कुछ ही लकड़ियां ग्रच्छी पड़ती हैं। सबसे ग्रच्छी लकड़ी लाल देवदारु की होती है। लाल देवदारु की लकड़ी से बनी हुई पेंसिल को ग्रासानी से छीला जा सकता है।

पेंसिल की सींक इस तरह बनाई जाती है: मिट्टी, बारीक पिसा हुग्रा ग्रैफाइट ग्रौर पानी को मिलाकर गूंथ लेते हैं। इस गुंथे हुए ग्रैफाइट को धातु की बनी हुई एक
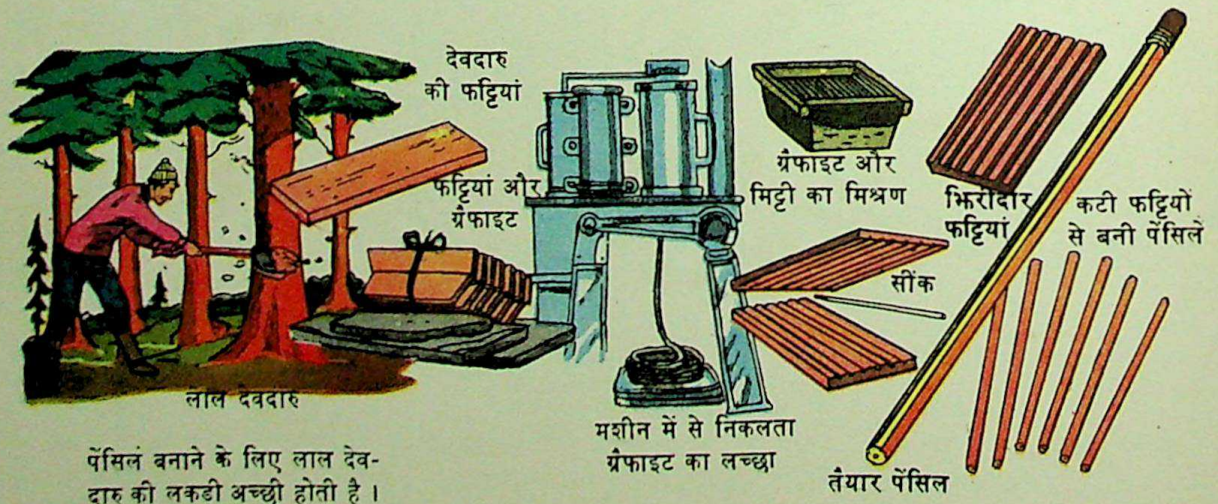
पेंसिल बनाने के लिए लाल देव-दारु की लकड़ी अच्छी होती है।

पट्टी पर रखकर दबाते हैं जिसके नीचे बारीक छेद बने होते हैं। प्रत्येक छेद से सेवई की तरह बारीक लच्छा निकलता है। इस लच्छे को सीधा करके टुकड़ों में काट लेते हैं। फिर इन टुकड़ों को एक बड़े चूल्हे पर रखकर सेंकते हैं ताकि इनकी नमी निकल जाए। चूल्हे से निकलने पर ये कड़ी, पतली सींकों का रूप ले लेते हैं।

अक्सर एक साथ छः पेंसिलें बनाई जाती हैं। फट्टियां भी छः पेंसिलों की एक साथ बनाई जाती हैं। फिर सींक को एक फट्टी पर रखकर दूसरी फट्टी लगाकर चिपका देते हैं। इसके बाद इसे पेंसिल की शक्ल में अलग-अलग काट लिया जाता है। फिर इनके ऊपर पालिश कर दी जाती है।

पौधशाला (GREENHOUSE) : मौसम की क्रूरताओं से पौधों की रक्षा के लिए जो शीशे के घर बनाए जाते हैं
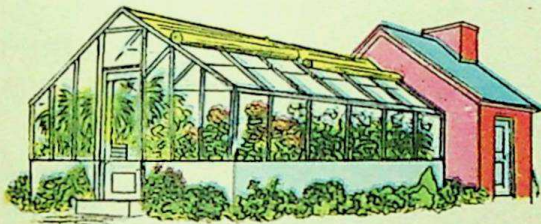
पौधशाला में सारे साल फूलों की बहार रहती है।

उनको पौधशाला (ग्रीन हाउस) कहते हैं। शीशे से अन्दर गर्मी तो पहुंचती है लेकिन वह हवा से इधर-उधर नहीं हो पाती। माली खाद वाली मिट्टी में पौधे बो देता है और उन्हें पानी देता है। इस तरह पौधों को पानी, मिट्टी, खाद और धूप मिल जाती है और तेज़ ठंडी या गरम हवा और पाले आदि से पौधों की रक्षा हो जाती है।

यूरोप में पौधशालाएं बहुत ज़रूरी हैं, क्योंकि वहां साल के आरम्भ में कठोर शीत का मौसम होता है। ककड़ी, टमाटर आदि यदि खेतों में बोए जाएं तो उन्हें पाला मार जाए। इसलिए पहले उन्हें पौधशाला में बो देते हैं। फिर बाद में अनुकूल मौसम होने पर उन्हें बाहर खेतों में लाकर रोप दिया जाता है।

बहुत-से प्रयोग भी पौधशालाओं में होते हैं। पौधों को लगनेवाले रोगों की दवाइयां भी यहां खोजी जाती हैं। कृत्रिम वातावरण द्वारा ऐसी चीज़ें भी उगाई जाती हैं जो उस देश में सामान्यतः नहीं होतीं। इटली में केला नहीं होता लेकिन वह पौधशाला में पैदा किया जा सकता है।

पौधों की नस्ल सुधारना (PLANT BREEDING) : गोभी आदि जैसे कुछ पौधे जंगल में कभी यों ही पैदा नहीं होने लगे थे। बाग-बगीचे लगाकर नये पौधे तैयार करने की जब तक प्रथा नहीं विकसित हुई थी, तब तक इनका नाम-निशान नहीं था। गेहूं, सेब, गाजर, कपास तथा अन्य कई पौधे जंगली पैदावार हैं। लेकिन अपने जंगली पूर्वजों के बजाय आज के ये पौधे हमारे लिए कहीं अधिक उपयोगी हैं। अच्छी किस्म के पौधों को पैदा करने को ही पौधों की नस्ल सुधारना कहते हैं।

किसी पौधे की किस्म सुधारना आरम्भ करने के पूर्व इसका विशेषज्ञ अपने मन में यह सोचे रहता है कि उसे किस तरह का पौधा पैदा करना है। हो सकता है कि वह ऐसा सेब उपजाना चाहे जो नाशपाती जैसे स्वाद का हो, या वह संतरे का ऐसा पेड़ तैयार करना चाहे जो शीत ऋतु के प्रहारों को झेल सके। वह किसी नये रंग का फूल पैदा करने की भी सोच सकता है जिसपर किसी रोग-विशेष का असर न होता हो। वह बिना बीज वाली ककड़ी उगाना या सम्भवतः ऐसे फल का पेड़ उगाना चाह सकता है जो गर्मी-भर फल देता रहे।

ऐसा करने के लिए वह पौधों की कलमें लगाएगा।

सुधारी हुई किस्म का फल

जंगली फल

बढ़िया किस्म तैयार करने के लिए चार विभिन्न प्रकार के बीज मिला दिए जाते हैं। पर संकर बीज से दूसरी बार में ही उतनी अच्छी फसल नहीं होती। बीजों का संकरीकरण बार-बार करना होता है।

ये कलमें ऐसे ही पौधों की होती हैं जो मिलती-जुलती जाति के होते हैं। कभी-कभी वह पौधों की दुनिया में चलनेवाले 'आदान-प्रदान' को गौर से देखता रहता है। पौधों में अपने-आप कुछ फेर-बदल होते रहते हैं और इससे कुछ नई जातियां तैयार होती रहती हैं, जो कभी-कभी बहुत काम की सिद्ध होती हैं।

सावधानी से बीजों का चुनाव करने से भी पौधे सुधर जाते हैं। माली अगली फसल की पौध के लिए सदा सबसे अच्छे पौधे का ही बीज बोता है।

(देखें : कलम लगाना; संकर पशु और पौधे)

फर्नीचर (FURNITURE) : पशु-पालन और कृषि-कर्म सीख लेने के बाद जब लोग कुछ स्थानों पर टिककर रहने लगे और अपने लिए अच्छे घर बनाने लगे, तो उन्होंने अपने घरों के लिए फर्नीचर बनाना भी शुरू कर दिया।

पहले लोगों का ध्यान फर्नीचर की उपयोगिता पर

विविध डिज़ाइनों के फर्नीचर

ही गया होगा। लेकिन धीरे-धीरे वे ऐसा फर्नीचर बनाने लगे जो उपयोगी तो था ही सुंदर भी था। जिन दिनों मिस्र के लोग विशाल पिरामिडों का निर्माण कर रहे थे उन दिनों वहां बहुत बढ़िया फर्नीचर भी बनने लगा था। कुछ फर्नीचर ऐसा था जिसे सोने से सजाया गया था और उसमें हाथीदांत का प्रयोग हुआ था। कुर्सियों पर मुलायम गद्दे लगे हुए थे। सभी मिस्रवासियों के पास ऐसा फर्नीचर रहा हो—ऐसी बात नहीं थी। केवल अमीरों और सरदारों को ऐसा फर्नीचर उपलब्ध था। ऐसा हम इसलिए कह सकते हैं क्योंकि सरदारों को दफनाते समय उनके साथ कुर्सियां, गद्देदार बेंचें और कपड़ों की पेटियां आदि भी रख दी जाती थीं। आज कब्रों में से निकली इस प्रकार की कुछ वस्तुएं अजायबघरों में देखी जा सकती हैं।

आरंभिक दिनों में कुछ फर्नीचर पत्थर को तराशकर बनाया गया था। लेकिन पत्थर का फर्नीचर बहुत भारी होता है। उसे एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में परेशानी होती है। पिछली अनेक शताब्दियों से फर्नीचर के लिए लकड़ी को ही अच्छा माना जाता रहा है। आजकल फर्नीचर में धातुओं और प्लास्टिक का भी प्रयोग होता है। बहुत-सी कुर्सियों और सोफा-सेटों में फोमरबर की मोटी गद्दियां लगी होती हैं। कुछ कुर्सियों और सोफा-सेटों में पूरे फर्नीचर पर पहले मोटी गद्दी लगा दी जाती है, और फिर उसपर कपड़ा, चमड़ा या प्लास्टिक मढ़ दिया जाता है।

जिस तरह कपड़ों के फैशन बदलते रहते हैं उसी प्रकार फर्नीचर के स्टाइल भी बदलते रहते हैं।

सुंदर फर्नीचर का निर्माण एक कला है। इंग्लैंड में यह कला पुनरुत्थान युग (सन् 1660) के उपरांत विकसित हुई। आरंभ में अखरोट की लकड़ी का फर्नीचर इतना लोकप्रिय हुआ कि फर्नीचर-निर्माण के इतिहास में वह युग ही अखरोट-युग के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद आबनूस-युग आया जिसमें थॉमस चिपेंडेल ने, जिसकी गणना विश्व के सर्वाधिक प्रसिद्ध फर्नीचर-आर्टिस्टों में की जाती है, अपनी सुंदर मेज़-कुर्सियां बनाईं। उसके बाद जॉर्ज हेपिल ह्वाइट का युग आया जिसका फर्नीचर अपनी आकर्षक सादगी के लिए प्रसिद्ध है। इसी युग में शेरटन भी हुआ जिसने बहुत ही सुंदर और कलात्मक डिज़ाइन का फर्नीचर तैयार किया।

आजकल सादा डिज़ाइन वाले हाथ से बने फर्नीचर को पसंद किया जाता है। लेकिन बड़े पैमाने पर फर्नीचर कारखानों में मशीनों द्वारा ही बनाया जाता है।

फल (FRUITS) : साथ के नक्शे से हमें यह पता चलता है कि हमारे आधुनिक फलों के वन्य पूर्वज कहां रहते थे। मिसाल के तौर पर आड़ू पूर्वी एशिया में उत्पन्न हुआ था, नाशपाती पूर्वी यूरोप से आई है, तरबूज दक्षिणी अफ्रीका से और ग्रेपफ्रूट पूर्वी द्वीपसमूह से आया है। आज जब अंगूरों की बात चलती है तो लोगों का ध्यान फ्रांस की ओर चला जाता है, जबकि मूल रूप से अंगूर फ्रांस का नहीं बल्कि पश्चिम एशिया का फल है। मध्य अमरीका के छोटे-छोटे गणराज्यों में इतने केले (अंग्रेज़ी में 'बनाना') उगाए जाते हैं कि उन्हें 'बनाना रिपब्लिक्स' कहा जाता है। लेकिन शुरू में केला दक्षिण एशिया से आया था।
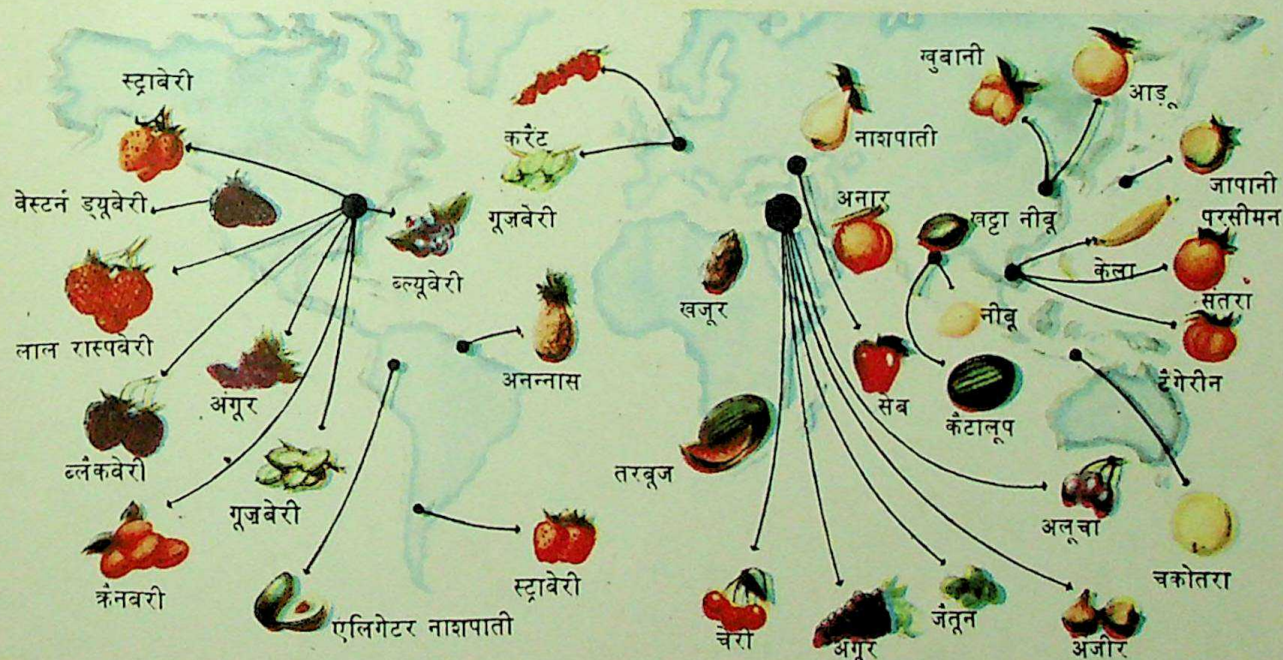
अधिकांश फलों में प्रमुख खाद्यसामग्री शर्करा होती है। शर्करा के कारण ही उनमें मिठास होती है। खालिस चीनी खाने के बजाय फलों के माध्यम से शर्करा खाना अधिक लाभप्रद रहता है, क्योंकि फलों में शर्करा के अलावा विटामिन और दूसरे उपयोगी खनिज भी रहते हैं।

फल एक अर्थ में बीजों की पुड़िया है। इस पुड़िया में से बीज अक्सर बिखरते रहते हैं। चिड़ियां, और दूसरे जानवर, स्वादिष्ट फलों के गूदे वाले भाग को खाकर उसके बीज फेंक देते हैं। अगर ये बीज उपजाऊ ज़मीन में गिरते हैं तो वहीं उगना शुरू कर देते हैं।

कुछ फल एक बीज वाले हैं, जैसे आड़ू, अलूचा, चेरी और खुबानी। इसके विपरीत कुछ फल एक से अधिक बीजों वाले हैं, जैसे अंगूर, सेब, संतरा और नाशपाती। तरबूज, स्ट्राबेरी और ब्लैकबेरी आदि फल ऐसे हैं जिनमें बहुत बीज होते हैं।

फलों की उत्पत्ति फूलों से होती है। नाशपाती के बगीचे में नाशपातियां दिखाई देने से पहले यह ज़रूरी है कि नाशपाती के पेड़ों पर फूल खिलें। अगर फूल खिलने के दिनों में पाला पड़ता है और फूलों को नष्ट कर देता है तो बगीचे में नाशपातियां पैदा नहीं होतीं।

बगीचों में लगे फलों के अधिकांश पेड़ कलमीं होते हैं। कलमी पेड़ों पर बीजों से उगे पेड़ों के मुकाबले फल जल्दी आते हैं। लेकिन कभी-कभी फलों के पेड़ उनके बीजों से भी उगाए जाते हैं। कुछ लोग दो किस्म के बीजों का जान-बूझ कर संकरण कर देते हैं। इस तरीके से कई नये फल प्राप्त हुए हैं। मिसाल के तौर पर प्लमकौट खुबानी और अलूचे का संकर है। इसी प्रकार कई फल ऐसे हैं जो एक ही किस्म के दो फलों के संकरण से उत्पन्न हुए हैं।

जिन फलों में बीज नहीं होते उनसे पेड़ नहीं उगाए जा सकते। लेकिन बीजरहित फलों को खाने में अधिक मज़ा आता है। आजकल कुछ बीजोंवाले फलों को बीजरहित बनाने की दिशा में प्रयत्न किए जा रहे हैं। बीजरहित अंगूर और संतरे तो उपलब्ध भी होने लगे हैं। केलों के बीज भी अब बहुत छोटे-छोटे काले बिंदुओं में बदल दिए गए हैं। अब बीजरहित तरबूज भी उगाए जाते हैं। धीरे-धीरे और भी बीजरहित फल उगाए जा सकेंगे।

टमाटर को फल कहा जाए या नहीं? इस बात पर अक्सर बहस होती है। अगर यह प्रश्न वैज्ञानिक से किया जाए तो उसका उत्तर होगा—"हां"। वैज्ञानिक की दृष्टि में पेड़ अपने बीजों का संग्रह जिस अंग में करे वही फल है। उनकी दृष्टि में मटर की फली और खीरा आदि भी फल हैं।

सेब के फूल

कोको की फली
अंजीर
खजूर
जैतून
अनन्नास
नारियल
कद्दू
आड़ू
केला
अनार
चेरी
टमाटर
तरबूज
स्क्वैश
रास्पबेरी
नाशपाती
चकोतरा
अंगूर
भुट्टा
स्ट्राबेरी
संतरा
सेब
सेम
ऐवोकाडो
नीबू
मटर

नाशपाती के फूल
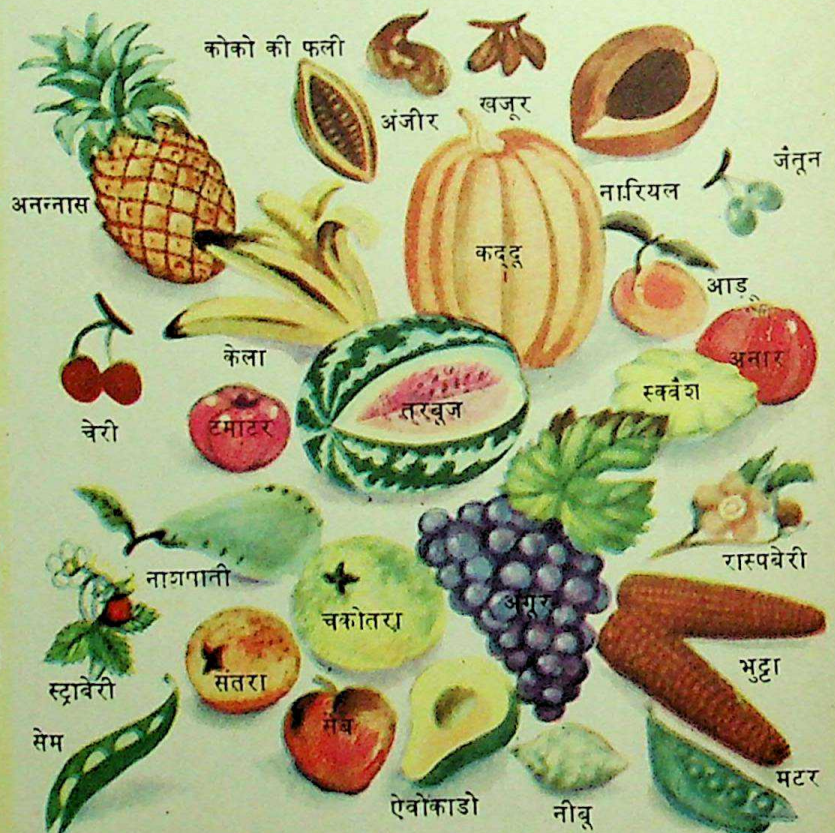
तिपतिया घास की जड़ की गांठों में स्थित जीवाणु नाइट्रोजन को मिट्टी में मिला देते हैं।

गांठ

फसलों का हेरफेर (CROP ROTATION) : सभी प्रकार की फसलें ज़मीन से विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थ ग्रहण करती हैं। इस प्रकार ज़मीन के प्राकृतिक खनिज कम होते जाते हैं। जब कोई किसान हर साल फसल उगाता जाता है और ज़मीन के खनिज पदार्थों की कमी पूरी नहीं करता तो उसकी ज़मीन अधिक दिनों तक उपजाऊ नहीं रह पाती है।

ज़मीन के खनिज पदार्थों की पूर्ति दो प्रकार से की जा सकती है—एक तो ज़मीन में रासायनिक खाद डालकर और दूसरे फसलों के हेरफेर से। कुछ फसलें एक प्रकार के खनिज का अधिक उपयोग करती हैं तो कुछ फसलें दूसरे प्रकार के खनिज का। फसलों को बदल-बदलकर उगाने से ज़मीन में खनिज पदार्थों का सन्तुलन बना रहता है। हर साल एक ही प्रकार की फसल उगाने से ज़मीन में किसी विशेष खनिज की कमी हो जाती है और इस तरह फसल भी खराब होने लगती है।

फसलों के हेरफेर में घास का भी उपयोग किया जाता है। जोताई के समय घास मिट्टी में मिल जाती है और खाद का काम देती है। घास से बननेवाली खादमिट्टी (ह्यूमस) कुछ खनिज पदार्थों को पौधों के उपयोग के योग्य बना देती है। इस दृष्टि से तिपतिया घास खेती के लिए बहुत उपयोगी होती है। इस घास की जड़ों में बहुत-सी गांठें होती हैं। इन गांठों में एक विशेष प्रकार के जीवाणु होते हैं जो हवा से नाइट्रोजन गैस ग्रहणकर उसे एक प्रकार के खनिज में बदल देते हैं।

फसलों के हेरफेर से घासफूस और विनाशकारी कीड़ों को पनपने का अवसर भी कम मिल पाता है।

बटन (BUTTONS) : आज बटन इतने आम हो गए हैं कि हमें यह सोचने में भी कठिनाई होती है कि किसी ज़माने में लोग बिना बटन के भी काम चलाते थे। लेकिन पुराने ज़माने के लोग कपड़ों के फीतों, नाड़ों और पिनों का प्रयोग करते थे। आज भी कुछ पुराने किस्म के लोगों की चौबन्दी में हम कपड़े को बांधकर पहनने का एक रूप देख सकते हैं। सबसे पहले एलिज़ाबेथ प्रथम के युग में बटनों का प्रयोग होने लगा।

पहले सभी प्रकार के बटन बहुत महंगे होते थे। इन्हें हाथ से बनाया जाता था। इनमें से कुछ सोने और चांदी के बने होते थे। कुछ में हीरे जड़े रहते थे। कुछ तो हीरों में ही नक्काशी करके बनाए ज़ाते थे।
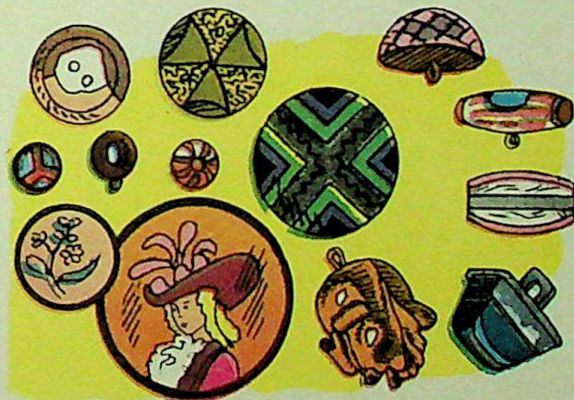
बटन अनेक शक्लों, आकारों और चीज़ों के बनते हैं।

आज भी कुछ बटन शौकिया लगे होते हैं और कुछ बहुत कीमती होते हैं। कभी-कभी तो कपड़ों में लगे बटनों की कीमत कपड़ों की कीमत और सिलाई से अधिक होती है। परन्तु आज सस्ते बटन भी मिलते हैं। बटनों के सस्ते होने का कारण यह है कि आजकल इन्हें मशीनों से बनाया जा सकता है।

आजकल बटन अनेक चीज़ों से बनाए जाते हैं। सीप, लकड़ी, चमड़ा, कपड़ा, शीशा, हड्डी, घोड़े के खुर, हाथीदांत,

10 मिलीमी० = 1 सेंटीमी०
100 सेंटीमी० = 1 मीटर
1000 मीटर = 1 किलोमी०

10 मिलीग्राम = 1 सैंटीग्राम
10 सेंटीग्राम = 1 डेसीग्राम
10 डेसीग्राम = 1 ग्राम

12 इंच = 1 फुट
3 फुट = 1 गज़
1760 गज़ = 1 मील

10 ग्राम = 1 डेकाग्राम
10 डेकाग्राम = 1 हेक्टाग्राम
10 हेक्टाग्राम = 1 किलोग्राम

10 लिटर = 1 डेकालिटर
10 डेकालिटर = 1 हेक्टालिटर
10 हेक्टालिटर = 1 किलोलिटर
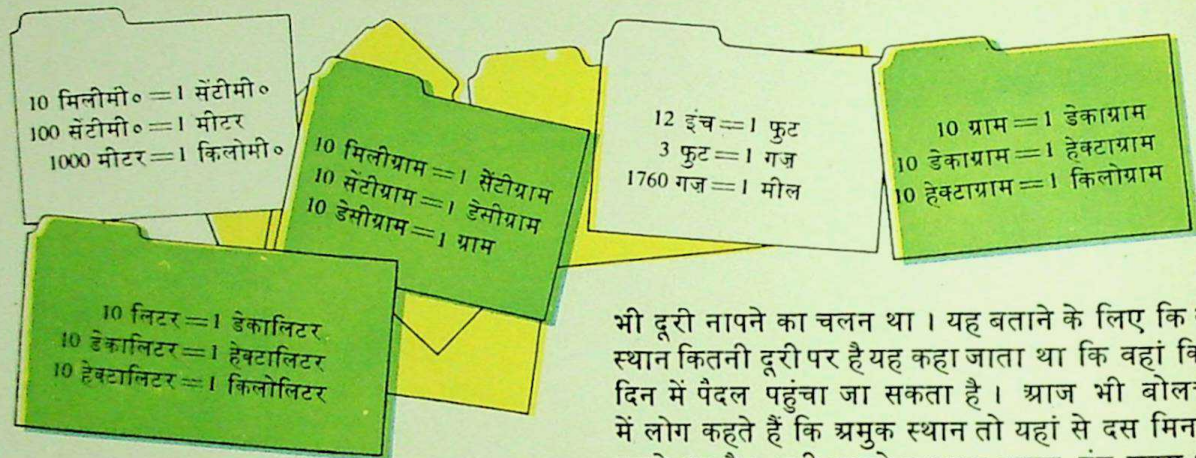
पीतल, चांदी, इस्पात और प्लास्टिक के भी बटन तैयार होते हैं। बटन विभिन्न आकारों, रंगों और शक्लों के बनाए जाते हैं।

आजकल कपड़े फंसाने के लिए जिपों, हुकों और स्नैपों का भी प्रयोग बटन के स्थान पर होता है।

बहुरूपदर्शी (KALEIDOSCOPE) : यह एक तरह का खिलौना है जिसे अंग्रेज़ी में 'कैलाइडस्कोप' कहते हैं। इसमें दो लम्बे और पतले आईने होते हैं जिन्हें एक नली में 'V' की शक्ल में फंसाया गया होता है। नली के एक सिरे पर टिन का टुकड़ा लगा रहता है जिसमें झांकने के लिए एक सूराख बना होता है। दूसरे सिरे पर शीशे के दो गोल टुकड़ों को लगाकर एक बाक्स-सा बनाया जाता है। शीशों के बीच में थोड़ा फासला होता है। इस बीच की जगह में चूड़ियों के टुकड़े, रंगीन कागज़, शीशे या प्लास्टिक की चिन्दियां आदि रख दी जाती हैं।

जब कोई बहुरूपदर्शी के भीतर झांकता है और इसे बहुत धीरे-धीरे घुमाता है तो भीतर रखे चूड़ियों के टुकड़े या कागज़, शीशे या प्लास्टिक की चिन्दियों के कारण उसे नये-नये डिज़ाइन दिखाई देते हैं।

बाट और पैमाने (WEIGHTS AND MEASURES) : अगर हम बाटों और पैमानों का चलन छोड़ दें तो हमारा जीवन बहुत ही पिछड़ी अवस्था में पहुंच जाएगा। लेन-देन की तमाम चीज़ों में हम बाटों और पैमानों से काम लेते हैं। वैज्ञानिक अपनी खोजों में बहुत हद तक बाटों और पैमानों पर निर्भर करते हैं।

अति प्राचीन काल में ही लोगों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी कि दूरी नापने का कोई पैमाना होना चाहिए। प्राचीन काल में माप के लिए चार शारीरिक पैमाने काम में आते थे। वे थे—हाथ, बालिश्त, चार अंगुल और अंगुल। प्राचीन काल में समय के द्वारा भी दूरी नापने का चलन था। यह बताने के लिए कि कोई स्थान कितनी दूरी पर है यह कहा जाता था कि वहां कितने दिन में पैदल पहुंचा जा सकता है। आज भी बोलचाल में लोग कहते हैं कि अमुक स्थान तो यहां से दस मिनट के रास्ते पर है। दूरी नापने का एक दूसरा ढंग कदम था। आज भी हम कहते हैं 'चार कदम की दूरी।'

फुट, जिसका नामकरण मनुष्य के पांव के अंग्रेज़ी पर्याय पर हुआ है, प्राचीन काल में यूनान में प्रयुक्त होता था। रोमनों ने इसे यूनानियों से लिया और समूचे रोम साम्राज्य में इसे छोटी दूरी नापने का आदर्श पैमाना बना दिया। इंच पहले-पहल अंगूठे की चौड़ाई के बराबर होता था। रोमनों ने भी फुट को बारह इंचों में बांट रखा था, परन्तु उनके फुट और इंच हमारे आज के फुट और इंच के बराबर नहीं थे। मील शब्द लैटिन के दो शब्दों—'मिले पेसम' से निकला, जिनका अर्थ एक हज़ार डग होता है। रोमन डग दो कदमों के बराबर था और पांच फुट लंबा था।

फुट जैसा पैमाना तब तक स्थिर नहीं रह सकता, जब तक कि उसके लिए कोई ऐसा आदर्श पैमाना न हो जिसकी सावधानी से रक्षा की जाए। रोमनों ने इस तरह के पैमाने बना रखे थे जिन्हें वे अपने मन्दिरों में रखते थे। लेकिन रोमन साम्राज्य का पतन होने पर ये पैमाने भी गायब हो गए। मध्य काल में हर देश के अपने पैमाने हुआ करते थे। बहुत समय बाद ही जाकर कहीं सभी देशों में एक-जैसे पैमानों का प्रचलन आरम्भ हुआ।

आज से 150 वर्ष पूर्व फ्रांस के लोगों ने लंबाई के दूसरे सभी पैमानों को दूर हटाकर, एक बिलकुल नई पद्धति चलाई। उन्होंने मीटर को अपना प्रधान पैमाना माना। मीटर की लम्बाई उन्होंने भूमध्य रेखा से उत्तरी ध्रुव की दूरी के एक करोड़वें हिस्से के बराबर निश्चित की। यह एक करोड़वां हिस्सा ठीक-ठीक कितना होता है इसका उन्हें कोई निश्चित ज्ञान नहीं था। फिर भी मीटर को उन्होंने एक बहुत महत्त्वपूर्ण पैमाना बना दिया। नाप-तौल की उनकी सारी प्रणाली मीटर से ही निश्चित होती है जो मीटर-प्रणाली कहलाती है। विश्व-भर के वैज्ञानिक अपने कार्य में मीटर-प्रणाली का ही प्रयोग करते हैं। भारत में भी गज़, फुट, इंच आदि के पैमानों को हटाकर मीटर-प्रणाली ही लागू की गई है।

ज़मीन की पैमाइश के लिए भी पहले कई तरह के

उपाय काम में लाए जाते थे। आज हम ज़मीन को एकड़ और वर्गमील में नापते हैं। कुछ समय पहले तक भारत में ज़मीन बीघा, बिस्वा आदि में नापी जाती थी। भूमि नापने की एक अति प्राचीन पद्धति यह थी कि उसकी बोआई में कितना अनाज लगेगा या उसकी जोताई में कितना समय लगेगा। एक और पैमाना यह था कि उसमें खेती करने के लिए कितने बैलों या हलों की ज़रूरत होगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूमि का माप उसमें बोए जानेवाले बीज से होने लगने से पहले से ही लोगों के पास बीज को मापने का कोई पैमाना या बाट अवश्य रहा होगा। विभिन्न युगों में बीज मुट्ठियों, सींगों और तूंबों आदि से मापा जाता रहा है। पश्चिम में छोटी तौल के लिए मूल प्रेरणा गेहूं या जौ के दानों से ली गई थी। प्रारम्भिक बाट के रूप में ये दाने बहुत प्रचलित थे। सोने और चांदी आदि की तौल में आज भी ग्रेन (दाना) नामक बाट का प्रयोग होता है, यद्यपि तौल के लिए अब अनाज के दाने काम में नहीं लाए जाते। भारत में भी तौल के लिए जौ, चावल और खस के दानों का व्यवहार होता रहा है। तौल के जो बाट भारत में अभी पिछले दिनों तक बहु-प्रचलित रहे वे इस प्रकार थे : आठ चावल की एक रत्ती, आठ रत्ती का एक माशा, बारह माशे का एक तोला, पांच तोले की एक छटांक, चार छटांक का एक पाव, चार पाव का एक सेर और चालीस सेर का एक मन।

यूरोप आदि में लोग बड़ी चीज़ों को तौलने के लिए पत्थर के टुकड़े काम में लाते थे। इसीसे 'स्टोन' का बाट निकला। प्राचीन भारत में बड़ी चीज़ों को तौलने के लिए 'भार' प्रचलित था, जो दो हज़ार 'पल' के बराबर होता था। एक 'पल' का वज़न चार 'कर्ष' के बराबर होता था और एक 'कर्ष' सोलह माशे के बराबर होता था।

पौंड शब्द लैटिन के एक शब्द से निकला है जिसका अर्थ 'वज़न' है। इसका महत्त्व रोमन साम्राज्य में बहुत बढ़ गया था।

आज के बाट बहुत दुरुस्त हो गए हैं, क्योंकि इनका प्रयोग वैज्ञानिक लोग करते हैं। आज तौल के सबसे प्रचलित मान 'किलो', 'ग्राम' और 'लिटर' हैं जो भारत में भी अपना लिए गए हैं।

लम्बाई मापने के भी इतने अच्छे पैमाने बन गए हैं कि एक वैज्ञानिक आज मिलीमीटर के लाखवें हिस्से तक को माप सकता है। (देखें : तराज़ू और तौल)

बीज (SEEDS) : दुनिया-भर में जितने पौधे हैं, उनमें से आधे से ज़्यादा बीजों से उगते हैं। कुछ बीज बड़े होते हैं, जैसे नारियल। कुछ बहुत छोटे होते हैं, जैसे सरसों। बीजों के रंग भी अलग-अलग होते हैं और शक्लें भी। लेकिन ये सब तीन बातों में बिलकुल एक ही प्रकार के होते हैं। इन सबके भीतर एक छोटा पौधा छिपा होता

बीज

मक्का के दाने

एक अन्य बीज

फली
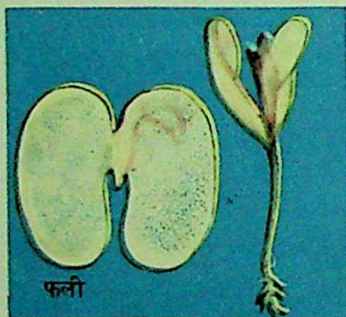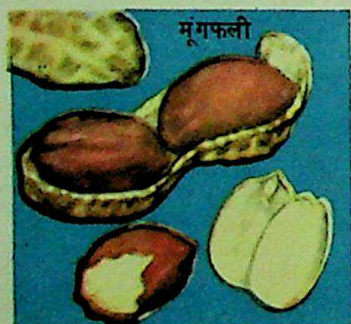
मूंगफली

अखरोट

कुकरौंधा

वन चिरौंजी

स्टिकटाइट
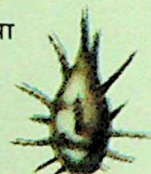
कॉकलबर

टम्बलवीड

सेवार

अमरीकी कमल्
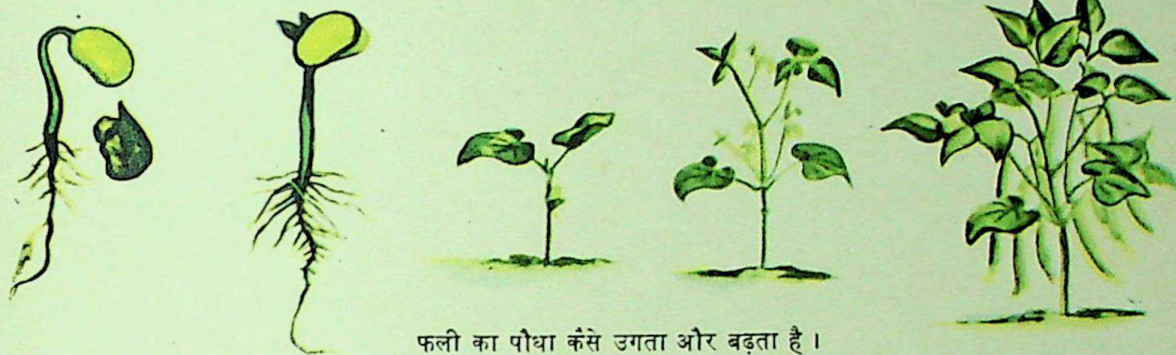
फली का पौधा कैसे उगता और बढ़ता है।

है। इन सब में छोटे पौधे के लिए खूराक होती है। हर एक के ऊपर आवरण होता है। यही आवरण छोटे पौधे और उसकी खूराक की रक्षा करता है।

साथ के चित्र में मक्का और बीन के बीजों के चित्र भी हैं। दोनों की बनावट में विषमता है। बीन में छोटा पौधा दो दलों के बीच छिपा बैठा है। आवरण के अन्दर दो दल और एक छोटा पौधा, ये तीनों मिलकर सारी

बहुत-से बीज चिड़ियों द्वारा फैलाए जाते हैं।

जगह घेरे हैं। मक्का के बीज में केवल एक ही दल है। बहुत-से बीज बीन की तरह के होते हैं, और बहुत-से मक्का की तरह के।

अगर बहुत-से बीज एक ही जगह गिर जाएं, तो उनके उगने की बहुत कम संभावना रहेगी। इसीलिए अधिकांश बीज यहां-वहां छितरा जाते हैं। कुछ थल पर, कुछ जल से और कुछ वायु द्वारा यात्रा करते हैं।

बहुत-से बीजों में, जो वायु द्वारा यात्रा करते हैं, रोयें हवाई छतरी का काम करते हैं। कुछ के पंख होते हैं। पानी से यात्रा करनेवाले बीज इतने हलके होते हैं कि वे पानी पर तैर लेते हैं।

थल के यात्री बीज अपनी यात्रा कई तरह से करते हैं। उनके बहुत छोटे-छोटे कांटे होते हैं। इनकी वजह से वे पक्षियों तथा अन्य उड़नेवाले जीवों के रोयेंदार परों पर जमकर बैठ जाते हैं। वे ऐसे कीचड़ में भी चिपककर लग जाते हैं जो पक्षियों के पंजों में लग जाता है। चिड़ियां इन बीजों को अक्सर सैकड़ों मील ले जाकर गिराती हैं। कुछ फलों को चिड़ियां पसन्द करती हैं। वे उन्हें खाती हैं। इस तरह जो बीज उनके पेट में चले जाते हैं वे बीट द्वारा बाहर निकलकर गिर पड़ते हैं, क्योंकि गूदा पच जाता है, बीज नहीं। वे प्रायः बीजों को उगल भी देती हैं।

हम लोग अनेक बीजों को खाने के काम में लाते हैं। जो खाना छोटे पौधे के लिए होता है, वह हमारे लिए भी बड़ी अच्छी खूराक है। हम बीन खाते हैं, मटर, काजू, अखरोट आदि खाते हैं। अन्न खाते हैं। ये सभी बीज ही तो हैं। शायद बीजों को ही मनुष्य ने सबसे पहले बोकर पौधे उगाना सीखा।

बुनाई (KNITTING) : जाड़ों में हम सभी ऊन के बुने हुए मोज़े, स्वेटर, मफ़लर और दस्ताने आदि पहनते हैं। सलाई से बुनाई का चलन करघे आदि की बुनाई की अपेक्षा अधिक नया है। करघे की बुनाई में ताने-बाने की ज़रूरत होती है। स्वेटर आदि की बुनाई सिर्फ एक धागे से की जा सकती है। प्राचीन काल में स्काटलैंड के मछुओं की औरतें हाथ से बुनाई करती थीं। आज भी उम्दा से उम्दा बुनाई हाथ से की जाती है।

बुनाई की मशीन का आविष्कार रानी एलिज़ाबेथ प्रथम के युग में हुआ था। इसका आविष्कारक विलियम ली था

बुनाई के नमूने
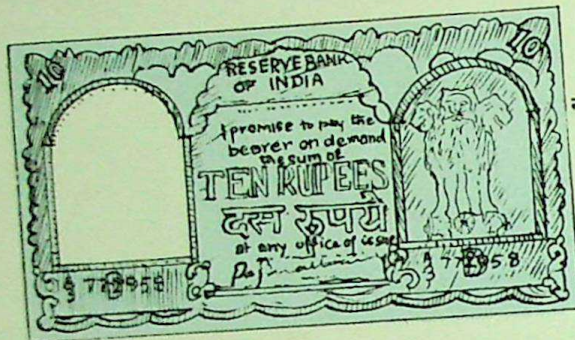
नोट
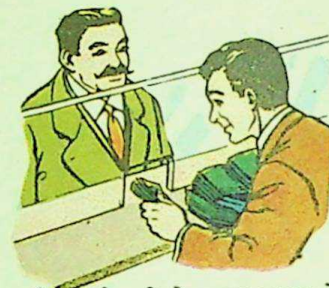
बैंक-कर्मचारी चेक का रुपया देते हुए

सेफ़ डिपॉजिट वॉल्ट

चेक
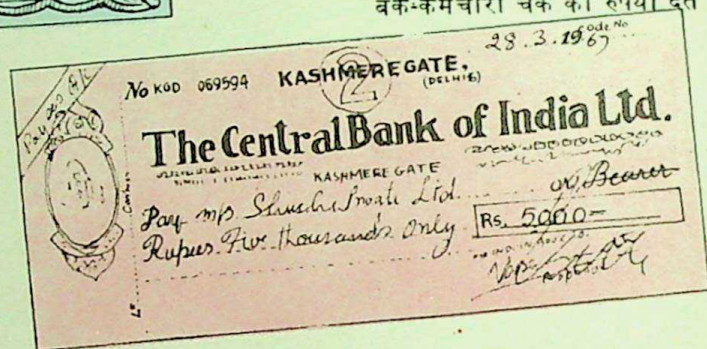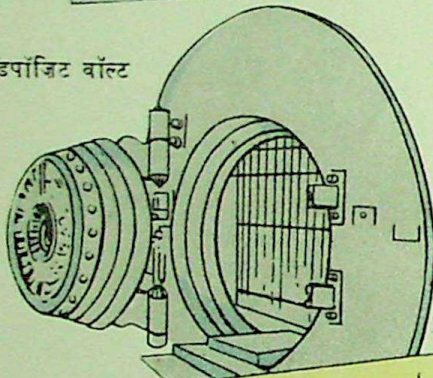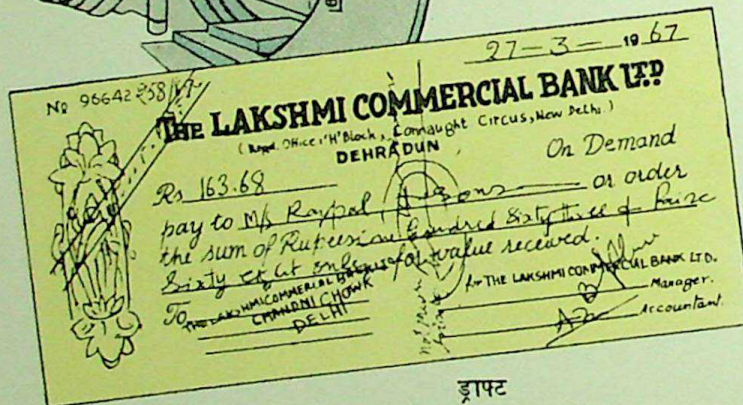
ड्राफ्ट

बेबीलोनिया की एक प्राचीन हुंडी

कहा जाता है कि उसने इस मशीन को इसलिए बनाया था कि वह जिस लड़की से प्रेम करता था उसका बहुतेरा समय ली से बात करने की जगह बुनाई में खर्च होता था। उसने अपनी मशीन से एक जोड़ा मोज़ा बनाकर रानी एलिज़ाबेथ को भेंट किया। रानी बहुत खुश हुई। लेकिन रानी ने ली को इस डर से इसका एकाधिकार नहीं दिया कि इससे बहुतेरी बुननेवाली औरतें बेकार हो जातीं। बुनाई की मशीन द्वारा तरह-तरह के धागों से बुनाई हो सकती है। आजकल बुनाई के काम आनेवाली चीज़ों में ऊन, रेशम, रेयन और नायलोन इत्यादि हैं।

(देखें : कताई और बुनाई)

बैंक (BANKS) : हमारे आर्थिक जीवन में बैंकों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। बैंकों का मुख्य कार्य रुपया उधार लेना व उधार देना है। उधार लिए रुपये पर बैंक ब्याज या सूद देते हैं और उधार दिए रुपये पर वे सूद लेते हैं। हम लोग सुरक्षा के लिए रुपये को बैंकों में जमा करते हैं।

बैंक से रुपये के लेन-देन में बड़ा सुभीता हो जाता है। मान लीजिए मुझे एक मोटर-साइकिल खरीदनी है। मोटर-साइकिल की कीमत तीन हज़ार रुपये है। मैं बैंक की अपनी चेक बुक निकालकर विक्रेता के नाम तीन हज़ार का चेक काट देता हूं। विक्रेता इस चेक को अपने बैंक में जमा कर देगा। उसका बैंक मेरे बैंक से इतना रुपया मंगवाकर उसके हिसाब में जमा कर लेगा। इस तरह एक पैसे को भी हाथ लगाए बिना तीन हज़ार रुपये का लेन-देन हो जाएगा।

लोग अपने धन को बैंकों में जमा करा देते हैं और इस तरह उसकी रक्षा की चिंता से मुक्त हो जाते हैं। नकद रुपया खो जाए या चोरी चला जाए, तो उसके मिलने की कोई संभावना या आशा नहीं रहती। मगर चेक बुक खो जाए, तो उसमें कोई खास खतरा नहीं रहता, क्योंकि पैसा

देनेवाले के दस्तखत के बिना उससे रुपया नहीं मिल सकता। और अगर चेक पर दस्तखत हो भी गए हों, तो बैंक को खबर देकर उसका भुगतान रुकवाया जा सकता है। और भी ज्यादा सुरक्षा के लिए चेक पर लकीरें खींचकर उसे 'क्रॉस' या रेखित किया जा सकता है—फिर तो वह सिर्फ हिसाब में ही जमा हो सकता है और उसके दुरुपयोग का खतरा रहता ही नहीं। इस तरह के चेकों को डाक द्वारा भी बेखटके भेजा जा सकता है।

बैंकों में रुपया कई खातों में जमा करवाया जा सकता है। सबसे प्रमुख खाते तीन हैं—बचत खाता या 'सेविंग्स एकाउंट', चालू खाता या 'करेंट एकाउंट' और मियादी जमा या 'फिक्स्ड डिपॉज़िट'। बचत खाते और मियादी जमा में रखे गए पैसे के बारे में बैंक को यह विश्वास होता है कि यह रकम कुछ अवधि तक उसके पास रहेगी। इस बीच बैंक इस पैसे का कुछ उपयोग कर सकता है और बैंक द्वारा इसपर दिया गया सूद असल में एक तरह का शुल्क ही है। चालू खाता असल में बैंक द्वारा दी गई एक सुविधा है कि वह आपके रुपये की संभाल करेगा और आपके लेन-देन के आदेशों का पालन करेगा और आपका हिसाब-किताब रखेगा। इसीलिए बैंक इसपर सूद लेता है।

बैंक अपने यहां जमा पैसे का कई तरह से उपयोग करता है। एक ढंग तो सूद पर कर्ज़ देने का ही है। दूसरे, बैंक रुपये को किसी उद्योग या व्यापार में भी लगा सकता है और उससे मुनाफा कमा सकता है। अपने यहां जमा रुपये से बैंक जायदाद भी बनाते हैं। इन सभी गतिविधियों से आया पैसा बैंक की पूंजी में वृद्धि करता रहता है। कई बैंकों में रुपये के अलावा ज़ेवर, हीरे-जवाहरात तथा कीमती दस्तावेज़ रखने के लिए सुरक्षा-जमा गृह या 'सेफ़ डिपाज़िट वॉल्ट' भी होते हैं। इनके इस्तेमाल के लिए भी बैंक कुछ शुल्क लेता है।
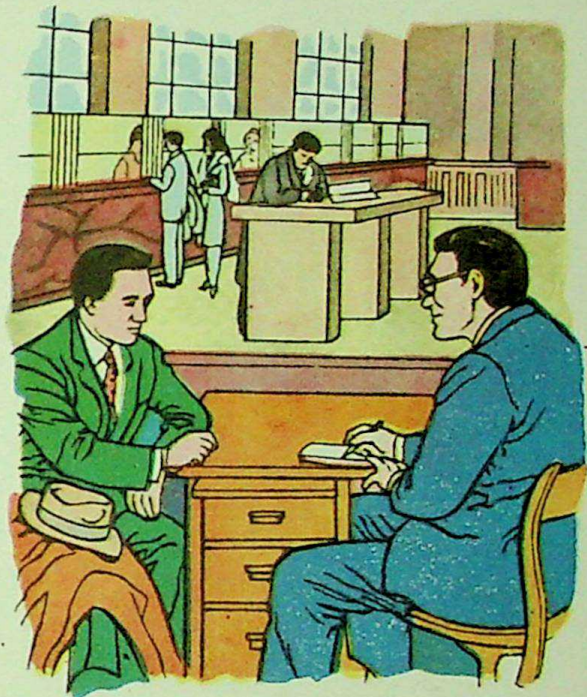
यह व्यक्ति बैंक से कुछ रकम कर्ज़ लेना चाहता है।

इस तरह बैंकों का मुख्य काम रुपये का लेन-देन है। इस काम को बैंकिंग या महाजनी कहते हैं और यह काम किसी न किसी रूप में हज़ारों वर्ष से चला आ रहा है।

बैलगाड़ी (BULLOCK CARTS) : हमारे देश के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी बैलगाड़ियों का बहुत उपयोग होता है। ऐसे स्थानों में जहां अन्य किसी प्रकार की सवारी नहीं मिलती बैलगाड़ी यात्रा और माल ढोने के काम आती है।
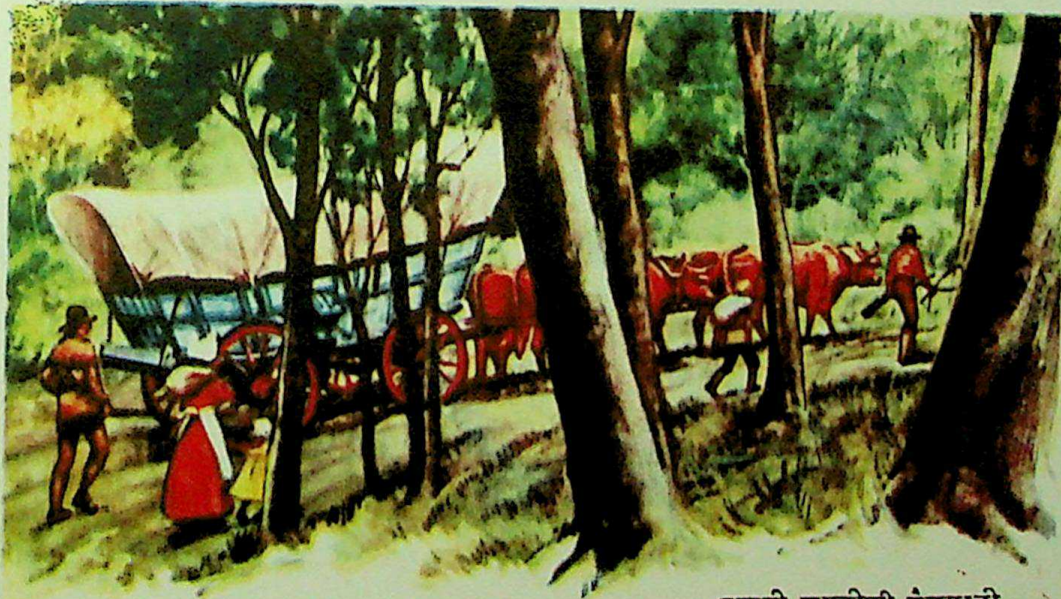
पुरानी अमरीकी बैलगाड़ी

रेलगाड़ी के ग्राविष्कार के पहले लोग बैलगाड़ियों में ही दूर-दूर की यात्रा किया करते थे। डाकुओं और जंगली जानवरों से सुरक्षा की दृष्टि से कई-कई बैलगाड़ियां एक साथ चला करती हैं। सवारी के काम आनेवाली बैलगाड़ियां आम तौर से ढंकी हुई होती हैं। इनके ऊपर कनवास, मोटे कपड़े या घासफूस का छप्पर-सा बना होता है। सवारी के काम आनेवाली बैलगाड़ियां काफी बड़ी होती हैं, क्योंकि इनमें यात्रियों के उठने-बैठने की जगह के अलावा आवश्यक सामान और खाने-पीने की चीज़ों को रखने की जगह भी निकालनी पड़ती है। भारत की कुछ घुमक्कड़ जातियों के लोग अपने पूरे परिवार और माल-असबाब को गाड़ी में लादकर एक गांव से दूसरे गांव घूमते रहते हैं।

अन्य कई देशों में भी बैलगाड़ियों का प्रचलन रहा है। उदाहरणार्थ, उत्तरी अमरीका के आरम्भिक निवासियों को, जो यूरोप से जाकर वहां बस गए थे, प्रायः बैलगाड़ियों में ही यात्रा करनी पड़ती थी। ये बैलगाड़ियां बहुत बड़ी होती थीं और ऊपर से ढंकी हुई होती थीं। इनमें आम तौर से चार पहिये होते थे और बैलों की दो जोड़ियां जोती जाती थीं। प्रायः कई गाड़ियां एक साथ चलती थीं। उनके साथ कुछ लोग पैदल और कुछ घोड़ों पर चला करते थे।

भूमि-संरक्षण (CONSERVATION OF LAND) : भूमि-संरक्षण का अर्थ यह है कि भूमि को इस प्रकार बचाकर रखा जाए कि वह सदा उपजाऊ बनी रहे।

पहले संसार में मनुष्यों की संख्या बहुत कम थी। वे भूमि को बरबाद करते थे। वनों को काट डालते थे। खेतों में बिना खाद डाले वर्षों फसलें उगाते रहते थे। पशु-पक्षियों का बहुत अधिक वध करते थे। इसका फल यह हुआ कि भूमि बंजर हो गई। चरागाहें उजड़ गईं। खेत अर्ध-रेगिस्तान बन गए।
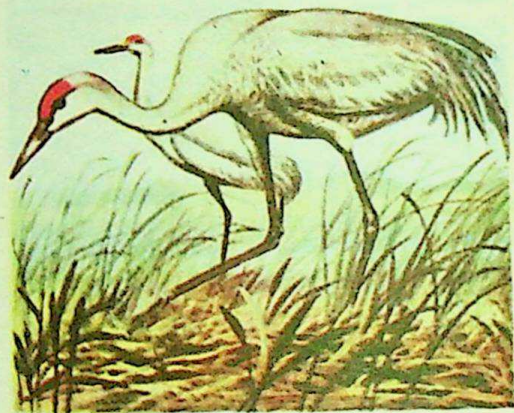
सारसों के लिए अब बहुत कम ताल बचे हैं।

पिछली शताब्दी में मनुष्य ने अपनी भूल अनुभव की। इस हानि को रोकने का उपाय करना आवश्यक हो गया। काटे गए वृक्षों के स्थान पर नये वृक्ष लगाने के लिए वन विभाग बनाए गए। किसान फसलों के हेरफेर और खादों की ओर अधिक ध्यान देने लगे। संरक्षित क्षेत्रों में शिकार खेलना मना कर दिया गया। बहुत-से जंतु जो मिटे जा रहे थे, इस संरक्षण में फिर बढ़ने लगे।

अधिकतर स्थानों पर हानि रुक गई। पर कहीं-कहीं यह नहीं हो सका। वहां की बंजर बनी हुई भूमि को फिर से कृषि-योग्य बनाने में बहुत वर्ष लगेंगे।

यहां कभी एक अच्छा-खासा नगर था जो अपनी लकड़ी के लिए प्रसिद्ध था।

बाल
भुट्टा
वल्लरी
पूलियों का गट्ठा
दाने
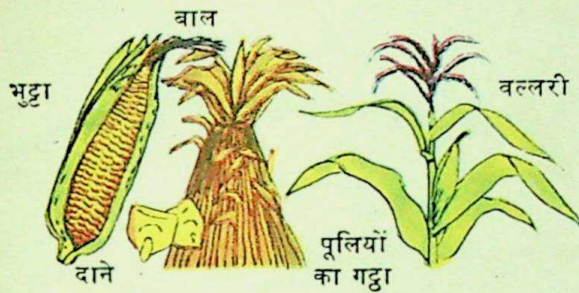
मक्का (CORN) : भारत के बाहर अमरीकी महाद्वीपों, चीन, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी यूरोप और दक्षिण अफ्रीका में मक्का बोई जाती है। यह गेहूं और धान की भांति एक घास है।

यह कोई नहीं जानता कि मक्का किस पौधे से आई है। जंगली मक्का कहीं नहीं पाई जाती। शायद उसके पुरखे दक्षिण अफ्रीका या मैक्सिको में उगते थे।

मक्का के दाने एक भुट्टे पर लगे होते हैं। भुट्टा पत्तियों से ढंका होता है। प्रत्येक दाने में एक शिशु-पौधा खाद्य-पदार्थ में लेटा होता है। मक्का में दो तरह के फूल आते हैं। ऊपर की कलंगी पराग देती है। नीचे के बाल मादा फूलों के होते हैं। पराग बालों पर आती है तो दाना बनता है।

आजकल जो मक्का उगाई जा रही है वह संकर मक्का है। इसके दाने मामूली पुरानी मक्का की तुलना में बड़े होते हैं।

मछली पकड़ना (FISHING) : हज़ारों साल से आदमी अपने भोजन के लिए मछलियां पकड़ता आया है। संसार के अनेक भागों में मछलियां पकड़ना बहुत पुराना और प्रमुख पेशा माना जाता रहा है।

बहुत-से लोग अपने भोजन और मनोरंजन के लिए मछलियां पकड़ते हैं। लेकिन, व्यापारिक दृष्टि से—बेचने

आरंभ में भाले और कंडी से मछलियां पकड़ी जाती थीं।

पत्ते
मक्का का पौधा
कांड
जड़ें
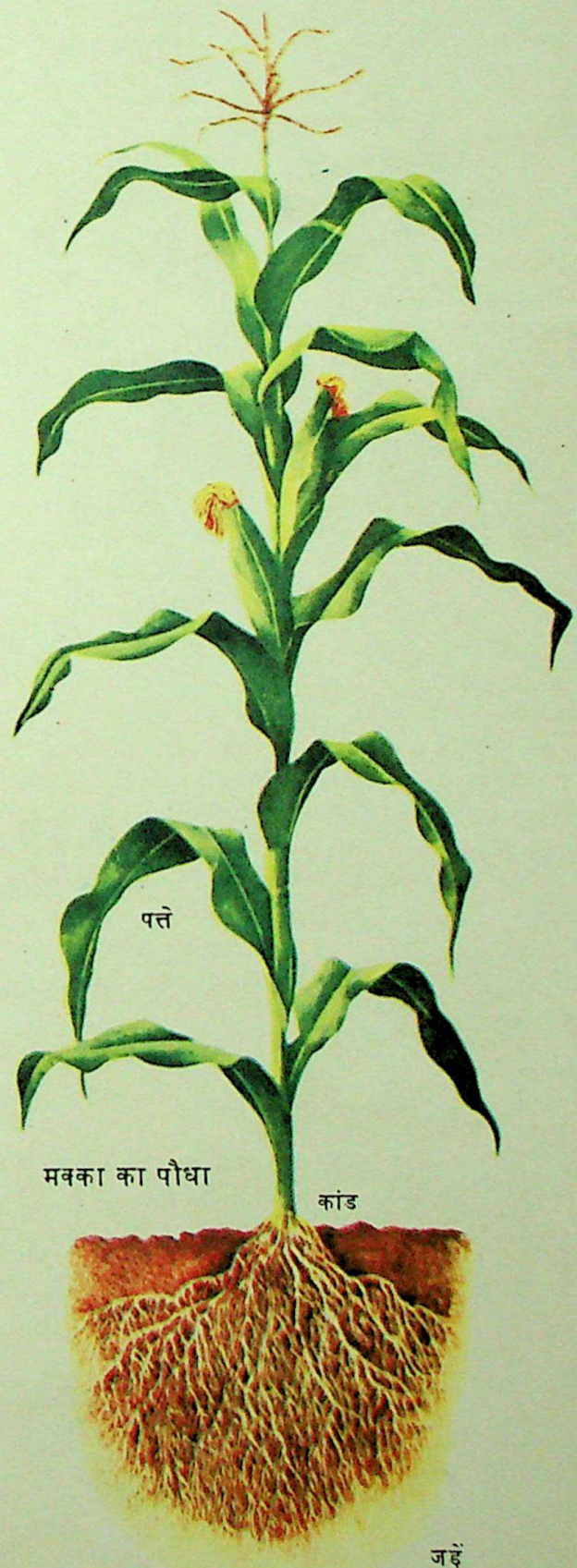
प्रशांत महासागर की अल्बाकोर
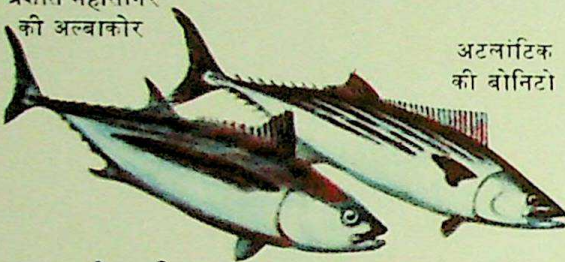
अटलांटिक की बोनिटो

पीतपख टूना

नीलपख टूना

टूना मछली का शिकार
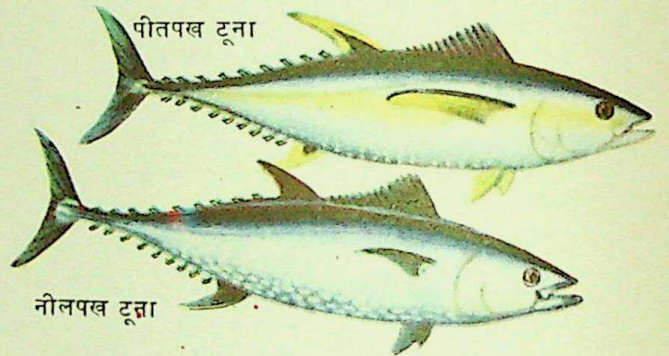
के लिए—भी मछलियां बहुत बड़े पैमाने पर पकड़ी जाती हैं। मछली पकड़नेवाले जहाज़ दुनिया के प्रायः सभी समुद्री तटों पर घूमते रहते हैं। उनके द्वारा पकड़ी गई मछलियां भोजन और तेल के काम आती हैं।

मछलियां पकड़ने के लिए कुछ स्थान खास तौर पर अच्छे हैं, उदाहरण के लिए न्यूफाउंडलैंड का ग्रांड बैंक।

भोजन के लिए हेरिंग मछली भारी मात्रा में पकड़ी जाती है। यह महासागर में रहनेवाली मछली है। कॉड, हैडक, मैकरेल, टूना और हैलीबट भी भोजन के लिए पकड़ी जानेवाली समुद्री मछलियां हैं। ट्राउट और ह्वाइट फिश मीठे पानी में रहनेवाली मछलियों में प्रमुख हैं। सालमन मछलियां करोड़ों-अरबों की संख्या में पकड़ी जाती हैं। इन्हें डिब्बों में बंद करके दूर-दूर भेजा जाता है। ये मछलियां पैदा तो मीठे पानी में होती हैं लेकिन रहती समुद्र में हैं। तेल के लिए पकड़ी जानेवाली मछलियों में

हेरिंग को पकड़ने का जाल
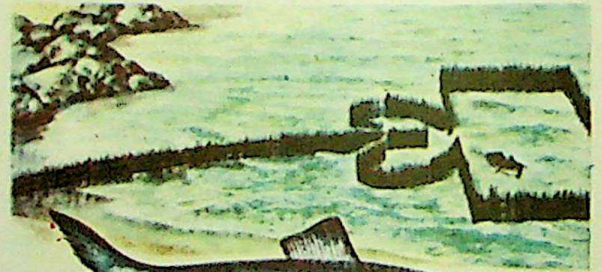
अटलांटिक की हेरिंग

शैड मछली का शिकार

चब मैकरेल

अटलांटिक की कॉड
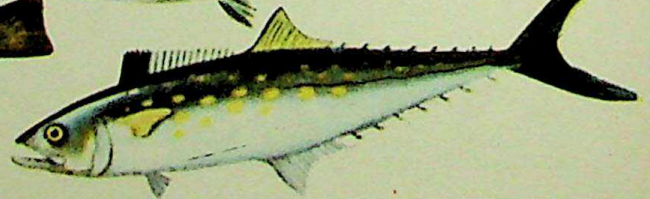
स्पेनी मैकरेल
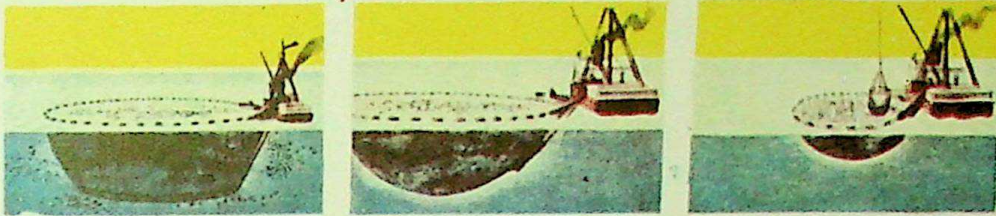
सारडीन मछलियों के झुंड पर जाल बिछा देते हैं, मछलियां फंस जाती है तो जाल उठने लगता है।

सबसे महत्त्वपूर्ण मैनहैडन हैं जो अटलांटिक महासागर में होती हैं।

अपने खाने और मनोरंजन के लिए खुद मछलियां पकड़नेवाले लोग प्रायः बंसी का प्रयोग करते हैं।

मछलियां इतनी बड़ी मात्रा में पकड़ी जाती हैं कि आज कुछ खास किस्म की मछलियों के पूरी तरह समाप्त हो जाने का डर हो गया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कुछ देशों की सरकारों ने मछलियों की कुछ किस्मों को नष्ट होने से बचाने के लिए कुछ योजनाएं बनाई हैं।

मदारी (JUGGLER) : डुगडुगी की आवाज़ सुनते ही बच्चे 'मदारी आया', 'मदारी आया' की रट लगाते हुए अपने-अपने घरों से निकल आते हैं। इस तरह दर्शकों की जब खासी भीड़ लग जाती है तो मदारी बन्दर का तमाशा शुरू करता है। उसके साथ आम तौर पर एक बन्दर और एक बन्दरिया रहती है। दोनों रंग-बिरंगे कपड़े पहने होते हैं।

मदारी बन्दरिया से पूछता है, 'हां तो, चुनिया सास के लिए रोटी बनाएगी?' चुनिया चट से मुंह फेर लेती है। इसी तरह वह बारी-बारी से ससुर और ननद के लिए पूछता है। पर बन्दरिया किसीके लिए भी रोटी बनाने को राज़ी नहीं होती। तब वह कहता है, 'चुनिया, अपने घरवाले के लिए रोटी बनाएगी?' इस बार वह झट राज़ी हो जाती है और अपने हाथों से जल्दी-जल्दी रोटी पकाने का अभिनय करने लगती है। बच्चे हंसी से लोट-पोट हो जाते हैं। मदारी इसी तरह बन्दर से भी कई मज़ाकिया सवाल करता है और वह अपनी हरकतों से बच्चों को खूब हंसाता है। खेल के अंत में, बन्दरिया हाथ में कटोरा पकड़े दर्शकों के पास जाती है और वे उसमें पैसे डालते हैं। कुछ बच्चे अपने घरों से आटा वगैरह ला देते हैं।

मदारी इसी तरह कस्बों और गांवों में घूमते हुए गली-मुहल्लों में बन्दर का तमाशा दिखाकर अपना पेट पालते हैं।

कुछ समय पहले अमरीका में भी बन्दर का तमाशा दिखानेवाले मदारी आम दिखाई देते थे। वे डुगडुगी की बजाय अपने पास एक हैंडिल से बजनेवाला बाजा रखते थे, जिसका नाम हर्डी-गर्डी था। इस बाजे के नाम पर ही बच्चे उस मदारी को हर्डी-गर्डी वाला कहते थे। चित्र में एक हर्डी-गर्डी वाला और उसका बन्दर दिखाया गया है। हर्डी-गर्डी सैकड़ों साल पुराना बाजा है। इस बाजे से बस दो-एक धुनें ही निकलती हैं। इसे कोई भी हैंडिल घुमाकर बजा सकता है।

अमरीकी मदारी डुगडुगी की जगह 'हर्डी-गर्डी' बजाते थे।

मिश्रधातु (ALLOYS) : हम अपने दैनिक जीवन में कितनी ही मिश्रधातुओं का उपयोग करते हैं। पीतल एक मिश्रधातु है। यह तांबे और जस्त के मेल से बनती है। पीतल बनाने के लिए इन दोनों धातुओं को लेकर इतना गरम किया जाता है कि ये पिघलकर एक हो जाती हैं।

हम शायद ही किसी ऐसी चीज़ का उपयोग करते हैं जो केवल एक ही धातु की बनी हो। उदाहरणार्थ, इस्पात भी एक मिश्रधातु ही है। इसमें अधिकांश तो लोहा ही होता है। लेकिन लोहा खुद इतना मज़बूत नहीं होता कि पुल, मकान, मशीनें आदि बनाने के काम आ सके। इसलिए इसमें कार्बन मिलाया जाता है। कार्बन और लोहे के मिश्रण को इस्पात कहते हैं। लेकिन कार्बन धातु नहीं है। इसलिए मिश्रधातु किसी धातु में अधातु (Non-metal) के मिश्रण को भी कह सकते हैं। कितने ही इस्पातों में एक या अधिक धातुएं मिली होती हैं। स्टेनलेस स्टील एक ऐसा ही इस्पात है।

जस्ते की झारी

कांसे की मूर्ति

कांसा भी एक मिश्रधातु है—यह आम तौर पर तांबे और टिन के मिश्रण से तैयार होता है। गहने बनाने के लिए सोने और चांदी में कुछ तांबा मिला दिया जाता है, यद्यपि उसमें अधिक भाग सोने या चांदी का ही रहता है।

मिश्रधातुओं का आधुनिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। शुद्ध धातु से अगर कोई काम नहीं चल पाता तो फिर किसी मिश्रधातु को उपयोग में लाने की कोशिश की जाती है। इसलिए नई-नई मिश्रधातुओं की खोज लगातार चलती रहती है।

मुद्रा (MONEY) : कोई समय था कि कई स्थानों पर बड़ी-बड़ी विचित्र वस्तुएं मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होती थीं, जैसे खुदे हुए कंकर, तंबाकू, चाय, साही के कांटे, खालें, नारियल, पशु, घोड़े, ईंट, कपड़ा, हाथीदांत, पत्थर के बने तीरों के अग्रभाग, अनाज, आदि। मुद्रा के प्राचीनतम प्रकारों में से एक या शायद सबसे पहली वस्तु बैल रही होगी। आजकल भी अफ्रीका की कई आदिम जातियों में जुर्माना पशुओं के रूप में अदा किया जाता है और पशुओं के बदले ही पत्नियां खरीदी जाती हैं। इसी प्रकार आज भी कई जंगली जातियों के लोग मुद्रा के स्थान में सीपियों का प्रयोग करते हैं।

प्रारम्भिक काल की मुद्राओं में एक बात समान थी। ये वे वस्तुएं होती थीं जिनकी किसी न किसी वजह से लोगों को आवश्यकता पड़ती थी। वे सब अच्छी टिकाऊ होती थीं और उनकी पहचान भी सरल थी।

सहस्रों वर्ष तक मुद्रा के रूप में धातुओं का प्रचलन रहा है। पहले-पहल सोना, पीतल और कांसा प्रयुक्त हुआ और बाद में चांदी, लोहा, सीसा और निकल भी प्रयुक्त होने लगे।

धीरे-धीरे सभ्य देशों में धातुओं ने मुद्रा के अन्य प्रकारों को पीछे छोड़ दिया। शुरू-शुरू में धातु के सिक्के नहीं बनाए जाते थे। इसके बदले उसकी छोटी-छोटी छड़ें होती थीं जिन्हें हर लेन-देन में तोलना पड़ता था।

मुद्राओं या सिक्कों के अनेक लाभ थे। तोलने के बजाय उनका गिनना सरल था। उनका निर्माता उनपर आकृति-विशेष मुद्रित करके वचनबद्ध हो जाता था कि अमुक सिक्के में धातु की अमुक मात्रा है। बस, सरकारों ने सिक्के चलाने शुरू कर दिए।

अब कई सिक्कों पर शासकों और देशभक्तों के चित्र होते हैं। जिस प्रथम महान व्यक्ति का चित्र सिक्कों पर अंकित हुआ, वह था सिकन्दर महान।

शुरू-शुरू में कई लोग सिक्कों के किनारों से थोड़ी-थोड़ी धातु काटकर धोखा करते थे। अतः आजकल सिक्कों के किनारों पर धारियां बना दी जाती हैं ताकि उन्हें काटा-छीला न जा सके।

दुनिया में आज जिस मुद्रा का सबसे अधिक चलन है, वह है कागज़ी मुद्रा। इसमें बड़ा आराम है। बस, कागज़ का एक हल्का-फुल्का-सा नोट जेब में सरका दिया

अमरीकी आदिवासियों की सीप की पेटी

अमरीकी आदिवासियों की शंख-मुद्रा

चीन की शाखा मुद्रा

आरंभिक यूनानी मुद्रा

कौड़ी

आज़्तक मुद्रा

आधुनिक कागज़ी नोट

स्वर्णश्रेलि

चांदी के सिक्के

चीन की प्राचीन मुद्रा

अमरीकी आदिवासियों के मनके

दक्षिणी प्रशांत की प्राचीन पाषाण-मुद्राएं

प्राचीन जापानी मुद्रा
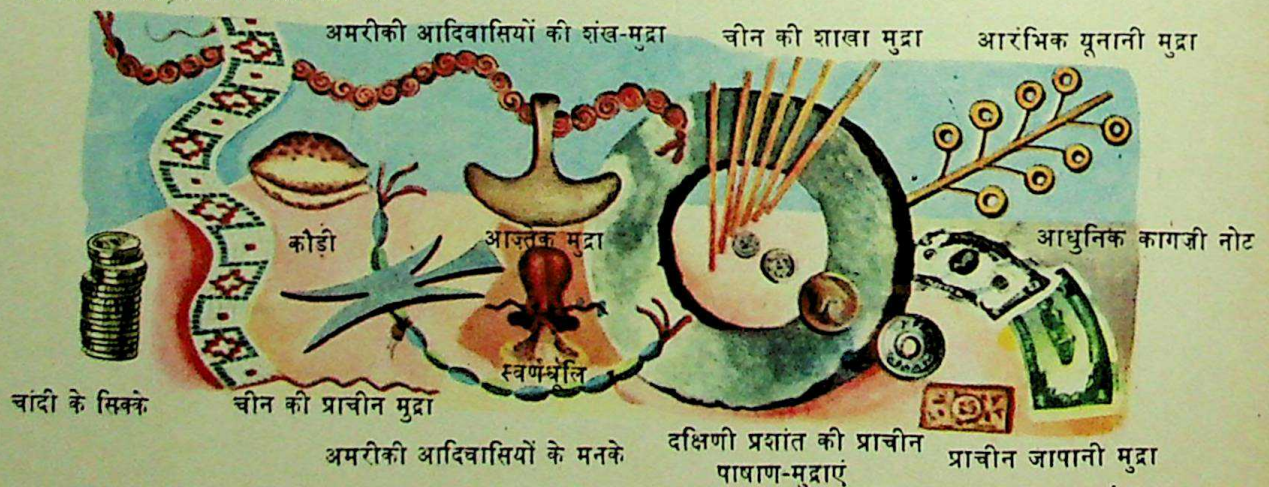
मुद्रा के रूप में चाय कभी बड़ी उपयोगी थी, क्योंकि उसके छोटे बंडल बनाए जा सकते थे।

तो सौ रुपये संभल जाते हैं।

मुद्रा के बिना अब हमारा काम किसी भी अवस्था में नहीं चल सकता। मुद्रा का एक बड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा हम प्रत्येक वस्तु का ठीक-ठीक मूल्य निश्चित कर सकते हैं। मान लीजिए कोई किसान एक रेडियो खरीदना चाहता है। देने को उसके पास दो हज़ार अण्डे हैं। भला हिसाब कैसे बने ? सीधी-सी बात है। पहले अंडों की कीमत लगा लीजिए कि कितने रुपये दर्जन मिलते हैं। फिर रेडियो की कीमत तय कर लीजिए कि कितने रुपये का है। इस प्रकार यदि रुपयों का मापदण्ड न हो तो ग्राहक के लिए यह जानना कठिन हो जाए कि कौन दूकानदार उसे महंगा रेडियो दे रहा है और कौन सस्ता।

मुद्राएं दूकानदार और ग्राहक के बीच माध्यम का काम करती हैं। मुद्रा के रूप में बचत करना भी सुविधाजनक है।

अठारहवीं सदी की एक टकसाल में चांदी के सिक्कों की ढलाई
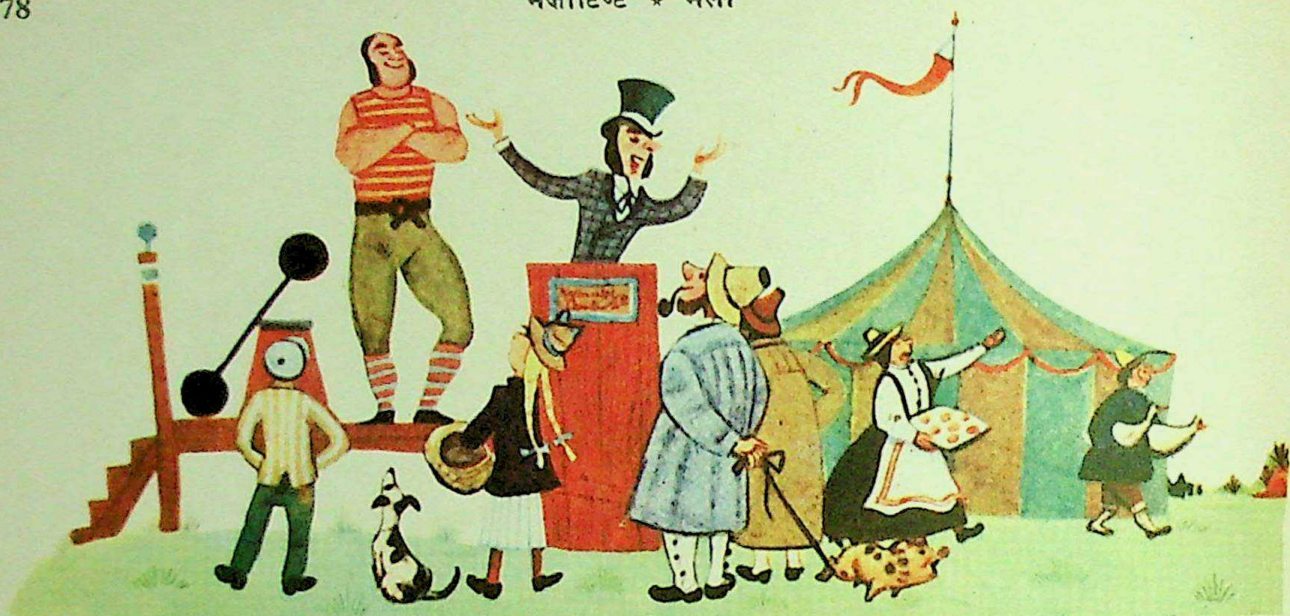
जादूगर, बाजीगर, सर्कस के खेल और अन्य तमाशे मेलों के आवश्यक अंग हैं ।

सरकार को दृढ़ बनाने में भी मुद्रा का बड़ा हाथ है, क्योंकि मुद्रा के रूप में कर उगाहना बहुत सरल हो जाता है। मुद्रा मानव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आविष्कार है।

मेज़ोटिण्ट (MEZZOTINT) : मेज़ोटिण्ट एक प्रकार के चित्र को कहते हैं जो विशेष प्रकार से छापा जाता है। यह कभी बहुत लोकप्रिय था। चित्र को पहले इस्पात या पीतल की प्लेट पर कुरेदा जाता है। कलाकार कुरेदने के लिए दुधारे उपकरण का प्रयोग करता है और चित्र के उन भागों को खोखला कर देता है जिन्हें वह हल्का दिखाना चाहता है। जिन भागों को वह गहरा दिखाना चाहता है उन्हें यों ही छोड़ देता है। भूरे या छायामय धब्बों के लिए वह गहरे रंगों पर हल्की-हल्की धारियां कुरेद देता है। जब वह प्लेट को पूरा कर लेता है तो उसके तल को सख्त करने के लिए उसपर बिजली से कलई कर दी जाती है।

इस प्रकार प्लेट छपाई के लिए तैयार हो जाती है। बेलन से उसके तल पर गाढ़ी चिकनी स्याही पोत दी जाती है। फालतू स्याही को पोंछ दिया जाता है। फिर स्याही-पुते तल पर कागज़ का टुकड़ा रखकर दबा दिया जाता है। इस प्रकार कागज़ पर चित्र छप जाता है।

(देखें : रंगीन छपाई)

मेला (FAIRS) : अपने आधुनिक अर्थ में व्यापार मध्य-युग से प्रारंभ हुआ है। उन दिनों व्यापार मुख्यतः बड़े-बड़े मेलों में होता था।

बड़े-बड़े मेले हर साल लगते थे किन्तु उनका समय अलग-अलग होता था, ताकि व्यापारी एक मेला पूरा कर के दूसरे में शामिल हो सकें।

मेले अधिकतर उमंग और उत्साह से भरे होते थे। सर्कस के लोग, बाजीगर, नाचनेवाले और ज्योतिषी आदि उन्हें और भी रंगीन बना देते थे। रोज़मर्रा की नीरस ज़िन्दगी में उन मेलों से बहार आ जाती थी।

मध्ययुग के अंतिम दिनों में समुद्री व्यापार की शुरू-आत के कारण मेलों का महत्त्व घट गया। शहरों से हट-कर व्यापार समुद्र के तटवर्ती नगरों में आ गया। लेकिन मध्ययुग का एक मेला ऐसा था जो सन् 1930 तक नियमित रूप से लगता रहा। यह मेला था रूस में लगनेवाला निजनी नोवागोरोद का मेला।

अब मेलों का वह महत्त्व नहीं रह गया है। गांवों में खास-खास मौकों पर अब भी मेले लगते हैं। ये मेले अधिकतर किसानों और पशुपालकों के लिए होते हैं। इनमें पशुओं, गल्ले और डेरी की चीज़ों की खरीद-फरोख्त ही खास तौर पर होती है।

व्यापार और विज्ञान को प्रोत्साहन देने के लिए राष्ट्रीय मेलों का भी आयोजन किया जाता है। ऐसे मेलों में सबसे महत्त्वपूर्ण सन् 1851 की ग्रेट एक्ज़िबीशन थी, जिसके लिए लंदन-स्थित हाइड पार्क में क्रिस्टल पैलेस का निर्माण कराया गया था। बहुत-से देश अपनी वैज्ञानिक व औद्योगिक प्रगति का दिग्दर्शन कराने के लिए दूसरे देशों में भी इस प्रकार की नुमाइशें करते हैं।

भारत में आज भी छोटे-बड़े सैकड़ों मेले लगते हैं। मेरठ का नौचंदी का मेला और गढ़मुक्तेश्वर का गंगास्नान का मेला दूर-दूर तक प्रसिद्ध हैं। इन्हें 'लक्खी मेला' कहा जाता है, क्योंकि इनमें भाग लेने के लिए लाखों की संख्या में लोग इकट्ठा होते हैं। बड़े नगरों में औद्योगिक मेलों के रूप में प्रदर्शनियों का आयोजन किया जाता है।

मोम (WAX) : मोम का सामान्य उपयोग मोमबत्ती बनाने में किया जाता है। इसके कुछ अन्य उपयोग भी हैं, जैसे जूते की पालिश, ग्रामोफोन के रिकार्ड, टाइपराइटर के कार्बन, वार्निश इत्यादि बनाना।

मोम प्राप्त करने के दो ढंग हैं, वनस्पतियों से या पशु-पक्षियों और कीड़ों से। ब्राज़ील में जो ताड़ का पेड़ होता है उसके पत्तों पर मोम पाया जाता है। इसे पत्तों से अलग कर साफ करते हैं और उपयोग में लाते हैं। बिनौले, पटसन और समुद्री-घास से भी मोम निकाला जाता है। खनिज तथा अन्य प्रकार के तेलों से पैराफिन मोम बनता है।

मधुमक्खी के छत्ते से जब मधु निकाल लिया जाता है, तो छत्ते को पानी में गरम करने पर मोम पिघलकर निकल आता है। इसी तरह ह्वेल मछली के सिर में एक तेल होता है जिसे ठंडा करने पर मोम निकलता है। इसकी औषधियां बनती हैं। (देखें : मोमबत्ती)

मोमबत्ती (CANDLES) : एक लम्बे समय तक प्रकाश के लिए मोमबत्तियों का प्रयोग होता रहा है। जब हम मन्द प्रकाश चाहते हैं, तो कभी-कभी आज भी मोमबत्ती जलाते हैं।

पहले मोमबत्तियां चर्बी से बनाई जाती थीं। आज इनके बनाने के लिए मोम का प्रयोग होता है। यह मोम
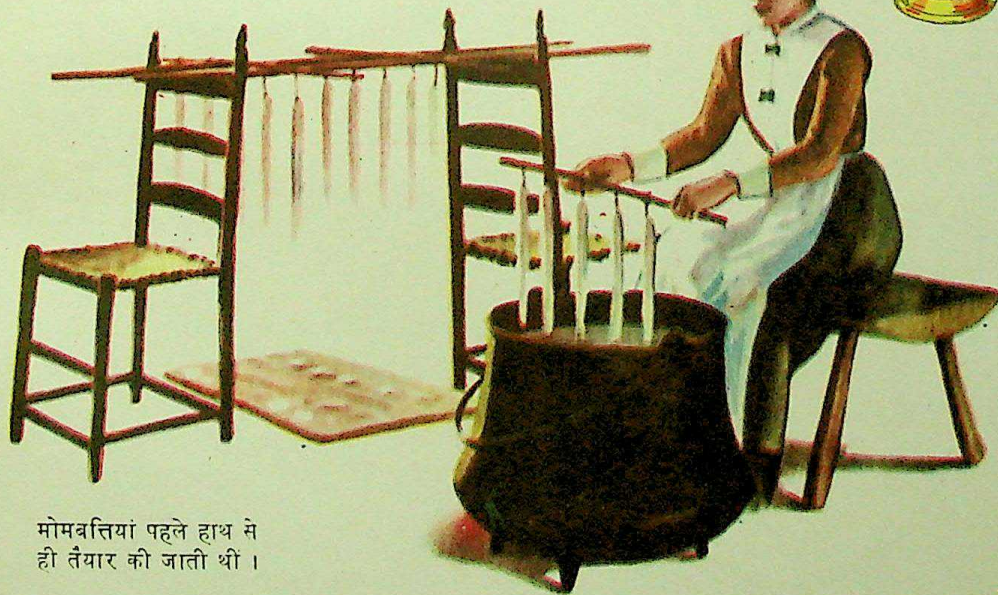
मोमबत्तियां पहले हाथ से ही तैयार की जाती थीं।

मोमबत्ती बुझाने के उपकरण
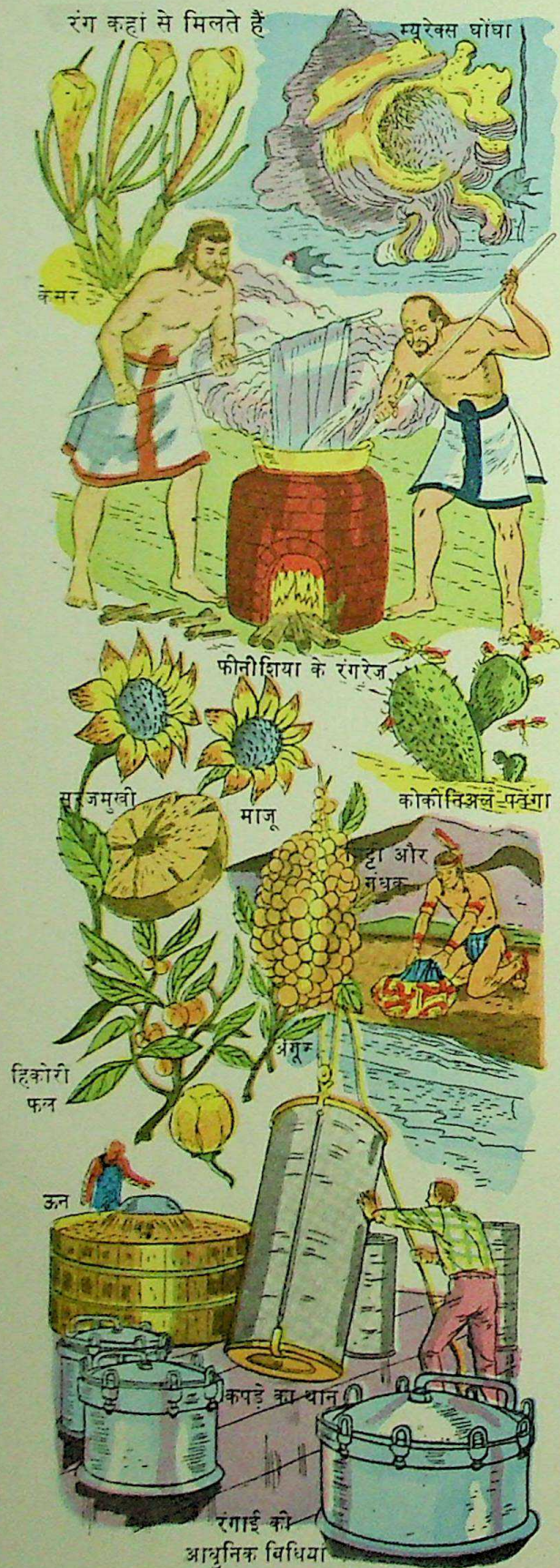
पैराफिन से बनता है, जिसे कभी-कभी अनेक रंगों में रंग भी लेते हैं।

पहले मोमबत्तियां बत्ती को पिघले हुए मोम में डुबाकर बनाते थे। आज भी कुछ मोमबत्तियां इसी तरह तैयार की जाती हैं। सांचे से मोमबत्तियां बहुत जल्द तैयार होती हैं। सांचे में बत्ती फंसाकर पिघली हुई चर्बी या मोम को भर दिया जाता है।

बत्ती मोमबत्ती का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। जब बत्ती जलती है तो उसकी गर्मी से ऊपरी सिरे का कुछ मोम पिघलकर लौ के मध्य भाग में पहुंचता है। यहां यह इतना गर्म हो जाता है कि गैस के रूप में परिवर्तित हो जाता है। गैस लौ बनकर बाहर की ओर फैलती है और जलती है। बिना बत्ती के मोमबत्ती को जलाना बहुत कठिन होता है। अगर यह जलेगी भी तो इसकी लौ कांपती रहेगी और उससे धुआं निकलेगा।

रंग (DYES) : मनुष्य एक लम्बे समय से विभिन्न प्रकार के रंगों का प्रयोग करता रहा है। लगभग तीन हज़ार साल पहले फीनीशियाई लोग संसार के सबसे अच्छे व्यापारियों में माने जाते थे। फीनीशिया भूमध्यसागर के पूर्वी छोर पर स्थित था। यहां से उनके जहाज़ माल लादकर दूर-दूर तक जाते थे। जिन चीज़ों का वे लोग व्यापार करते थे उनमें 'टायरियन बैंगनी' नामक एक रंग भी था। 'फीनीशिया' यूनानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'बैंगनी रंग का देश'। यह रंग एक छोटे समुद्री घोंघे से निकाला जाता था। यह रंग इतना सुन्दर था कि राजा-महाराजा इससे अपनी शाही पोशाक रंगवाया करते थे।

लेकिन फीनीशियाइयों के युग से भी बहुत पहले लोगों ने कुछ पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं से रंग प्राप्त करना सीख लिया था। कुछ रंग तो ऐसे थे जिन्हें बहुत आसानी से प्राप्त किया जा सकता था। पलाश के फूलों और कुछ रंग-बिरंगी बेरियों के रस से कपड़े रंगाने के लिए बहुत ज़्यादा होशियारी की ज़रूरत नहीं थी।

टायरियन बैंगनी रंग एक प्रकार के समुद्री घोंघे की खोपड़ी के पिछले हिस्से में रहनेवाले एक गाढ़े और बदबूदार रस से बनाया जाता था। यह रस देखने में सफेद होता था, लेकिन प्रकाश में रखने पर हरे रंग में बदल जाता था। कुछ देर बाद यह नीला हो जाता था। सज्जी के घोल में मिलाने से इसका रंग चमकदार बैंगनी-लाल हो जाता था।

पेड़ों की छालों, फूलों, बेरियों, कड़े छिलकेवाले फलों, माजू, जड़ों, कीड़े-मकोड़ों, घोंघों, काई, आदि से सदियों से तरह-तरह के रंग बनाए जाते रहे हैं। नील के पौधे से नीला रंग मिलता है। केसर से पीला रंग और पलाश के फूलों से केसरिया रंग प्राप्त किया जाता है।

सन1856 में इंग्लैंड के एक स्कूली लड़के ने एक बहुत बड़ी खोज की। उसका नाम था विलियम पार्किन्स। उसे कोयले से कुनैन तैयार करने की धुन थी। इसमें उसे सफलता नहीं मिली। लेकिन वह कोलतार से एक प्रकार का लैवेण्डर रंग तैयार करने में सफल हो गया। शीघ्र ही वैज्ञानिकों को पता चला कि कोलतार से सभी प्रकार के रंग बनाए जा सकते हैं। कोलतार से बने रंगों को ऐनिलीन रंग कहते हैं।

आजकल ऐनिलीन रंगों का ही अधिक प्रयोग होता है। यह कितनी विचित्र बात है कि हम अपने आसपास जितने सुन्दर रंगों को देखते हैं वे सब कोलतार-जैसी उस गंदी, काली और चिपचिपी चीज़ से तैयार होते हैं जिसे कभी बिलकुल बेकार समझकर फेंक दिया जाता था।

(देखें : रोगन)

आवर्धक शीशे में से चित्र बिन्दुओं में बंटा दीखता है

रंगीन छपाई (COLOUR PRINTING) : रंगीन चित्र छापने के लिए तीन मुख्य विधियां काम में लाई जाती हैं। इनमें से एक 'लेटर प्रेस' कहलाती है। इस विधि में चित्र को फोटो के द्वारा जस्ते की प्लेट पर उतार लेते हैं। जस्ते पर एक रक्षक पदार्थ लगाते हैं। जहां यह पदार्थ नहीं लगता वहां से जस्ते को तेज़ाब के सहारे निकाल देते हैं। इससे चित्र प्लेट के ऊपर उभरे हुए भाग के रूप में बच जाता है। यह भाग समतल हो सकता है अथवा इसमें नन्हे बिन्दु हो सकते हैं। प्लेट पर अब स्याही लगाते हैं और कागज़ पर दबाते हैं। समाचार-पत्र इसी विधि से छापे जाते हैं।

दूसरी विधि 'फोटो ग्राव्यूर' कहलाती है। इसमें फोटो को एक स्क्रीन के द्वारा तांबे की प्लेट या बेलन पर लिया जाता है। इससे वह सैकड़ों नन्हे बिन्दुओं में बंट जाता है। इन बिन्दुओं को तेज़ाब से काटते हैं। जहां रंग गहरा होता है वहां गहरे गड्ढे बन जाते हैं। गड्ढा जितना गहरा होता है उसमें उतनी ही अधिक स्याही भर जाती है। स्याही देने के बाद प्लेट की ऊपर की सतह साफ हो जाती है। जब कागज़ को प्लेट के ऊपर दबाया जाता है तो गड्ढों में भरा रंग कागज़ पर छप जाता है। गहरे गड्ढे गहरा रंग और छिछले गड्ढे हल्का रंग देते हैं।

'फोटोलीथोग्राफी' में चित्र को फोटोग्राफी के द्वारा एक गड्ढेदार जस्ते की प्लेट पर लिया जाता है। उसपर एक चिकना जलसह पदार्थ लगाया जाता है। एक बेलन प्लेट

पीली प्लेट

लाल प्लेट

नीली प्लेट

यह चित्र लाल, पीली, नीली और काली—चार प्लेटों से बना है।

को गीला करता है। केवल चिकने क्षेत्र सूखे रहते हैं। जब स्याही का बेलन इसके ऊपर से गुज़रता है तो स्याही केवल चित्र से चिपकती है। यह तब रबर से ढंके हुए एक बेलन पर ली जाती है और उसपर से कागज़ पर पहुंचती है।

लाल, पीले और नीले रंगों को प्राथमिक रंग कहते हैं। इनसे प्रायः सब दूसरे रंग बन जाते हैं। रंगीन चित्र छापने के लिए मुद्रक चार प्लेटें बनाता है। एक प्लेट से नीला, दूसरी से लाल, तीसरी से पीला और चौथी से काला रंग छपता है। (देखें : मेज़ोटिण्ट)

रबर (RUBBER) : जब स्पेनवासी अमरीका पहुंचे तो उन्होंने वहां के आदिवासी इंडियनों को ऐसी गेंदों से खेलते देखा जो उछलती थीं। ये गेंदें एक पेड़ के दूध से बनी होती थीं। इसे वहां के लोग 'कूची' कहते थे। 'कूची' का मतलब होता है 'रोनेवाला पेड़'।

स्पेनवासियों ने इसकी तरफ ज़्यादा ध्यान नहीं दिया क्योंकि वे तो सोने की तलाश में गए थे।

'रोनेवाले पेड़' के तने को थोड़ा काट दिया जाता था। उससे जो दूध टपकता उसे जमा कर लिया जाता था। उसका पानी जल्दी ही अलग हो जाता था और गाढ़ा पदार्थ जम जाता था। आदिवासी इंडियन पानी को फेंक देते थे। वे केवल गाढ़े पदार्थ को रख लेते थे। इसीसे वे गेंद तथा अन्य चीज़ें बनाते थे।

बाद में जब यह दूध यूरोप ले जाया गया तो कोई खास उत्सुकता लोगों ने नहीं दिखाई। इससे जो भी चीज़ बनाई जाती थी वह जाड़ों में फट जाती और गर्मियों में पिघल जाती थी। अंग्रेज़ वैज्ञानिक जोज़ेफ प्रीस्टले ने जब देखा कि इससे पेंसिल का लिखा मिटाया जा सकता है तो उसने इसका नाम 'रबर' रख दिया। आरम्भ में यह बड़ा कीमती था।

सन् 1823 में चार्ल्स मैकिंटोश नामक एक अंग्रेज़ ने रबर से बरसातियां बनाने का सफल प्रयोग किया। इसीलिए बरसातियों का नाम मैकिंटोश भी है।

सन् 1839 में चार्ल्स गुडईयर नामक एक अमरीकी ने पता लगाया कि अगर रबर में गंधक मिला दी जाए तो वह गर्म किए जाने के बाद आसानी से काम में आ सकता है। वह सर्दी में न तो फटता है और न गर्मियों में पिघलता है। यह पद्धति 'वल्कनाइज़ेशन' कहलाती है।

इसके बाद से रबर का अनेक तरह से प्रयोग होने लगा। रबर के पेड़ के बीज ब्राज़ील से गुप्त रूप से इंग्लैंड लाए गए और दक्षिण-पूर्वी एशिया के उपनिवेशों में, जहां जलवायु ब्राज़ील जैसी ही थी, उगाए गए।

मोटरकारों के आविष्कार के बाद रबर की मांग और भी बढ़ गई। सन् 1896 में पहला रबर टायर बना। पचास साल बाद विश्व-भर के उद्योगों में पचास गुना अधिक रबर का प्रयोग होने लगा।

अब कृत्रिम रबर भी बनाया जाने लगा है। इसे बनाने

रबर के उपयोग

गर्म पानी की बोतल

पेंसिल का रबर

गेंद

जूते

गुब्बारे

टायर

बाग में पानी देने का पाइप

रबर के पेड़ से दूध निकाला जा रहा है।

में पेट्रोलियम-जनित एक पदार्थ 'बूटाडिएन' का उपयोग होता है। आज रबर के बहुतेरे उपयोग हैं। कुछ में असली रबर ही अच्छा माना जाता है, लेकिन कुछ के लिए कृत्रिम रबर ज़्यादा अच्छा रहता है। कुछ में दोनों का मिश्रण अच्छा रहता है।

रस्सी (ROPE) : कोई नहीं जानता कि रस्सी बनाना सबसे पहले किसने शुरू किया। इसका कारण यह है कि रस्सी का उपयोग प्रागैतिहासिक काल से किया जा रहा है। सबसे पुरानी रस्सियां दक्षिण-पश्चिमी एशिया में बनी हुई मिलती हैं। ये रस्सियां बटकर बनाई जाती थीं। शायद रस्सी बटकर बनाने का विचार लकड़ी के रेशों को देखकर पैदा हुआ होगा। आज भी इसी तरह रस्सियां बनती हैं।

मशीनों का आविष्कार ज़रूर हुआ है, लेकिन रस्सियों के बनाने के तरीकों में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। आज भी दुनिया के बहुत-से भागों में रस्सी बटकर ही बनाई जाती है।

जूट की रस्सियां बड़ी अच्छी बनती हैं। अन्य चीज़ों से भी रस्सियां बनाई जाती हैं। मूंज भी इनमें शामिल है। तार से भी रस्सियां बनाई जाती हैं।

'राई' (RYE) : यह यूरोप में पैदा होनेवाला एक प्रकार का अन्न है। 'राई' चावल और गेहूं जितना तो महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु है उन्हींकी बिरादरी का। 'राई' ऐसी जगह भी पैदा हो जाता है जहां चावल या गेहूं नहीं होता।

इसकी डबल रोटी भूरी-सी होती है। इसका उपयोग शराब बनाने में भी होता है।

'राई' का पौधा चारे के रूप में जानवरों को खिलाया जाता है। इसके डंठल से चटाइयां बनती हैं। इसके सूखे पत्ते चीनी के बर्तन और कांच का सामान पैक करने में भी काम आते हैं।

रेशम (SILK) : रेशम के कीड़े अपने लिए लाखों साल से रेशम बनाते रहे हैं। रेशम का कीड़ा अपनी पूरी शक्ल में आने के पहले लार्वा की शक्ल में होता है। इस अवस्था

रेशम के कीड़े का जीवन-क्रम

रेशम और उसके उपयोग

में वह अपने को एक कोए के भीतर लपेट लेता है। यह कोया रेशम का होता है। कोई 4,000 साल पहले चीनियों ने इन कोयों को सुलझाना और इनसे रेशम निकालकर कपड़े बुनना सीख लिया था।

किसीको ठीक-ठीक नहीं मालूम कि चीनी पहली बार कब और कैसे ऐसा करने में सफल हुए। एक कहानी के अनुसार यह 2700 ई० पू० के आसपास की बात है। एक चीनी शहज़ादी एक दिन चाय पी रही थी। उसके गरम चाय से भरे प्याले में कहीं से रेशम का एक कोया गिर गया। शहज़ादी ने उसे निकाल देना चाहा। पर कोया गरम चाय में भीगकर सुलझ गया था। जब वह उसे निकालने लगी तो रेशम का एक लम्बा तागा खिंचता चला गया।

सैकड़ों साल तक चीनी लोग रेशम के कपड़े बनाते थे और यूरोप तथा एशिया के देशों में बेचते थे। कपड़े बनाने का तरीका वे किसीको नहीं बताते थे। लेकिन कपड़ा इतना सुन्दर होता था कि सभी लोग उसे बनाने की कला जानना चाहते थे। आखिरकार इसका भेद छठी सदी में रोमन सम्राट जस्टिनियन को दो ईरानी साधुओं से मिला। वे साधु चीन में कुछ दिनों तक रह चुके थे। भारी इनाम का लालच देकर जस्टिनियन ने उन्हें फिर चीन जाने और वहां से रेशम के कीड़ों के कुछ अंडे लाने के लिए राज़ी कर लिया। वे बांस के नलके में कुछ अंडे छिपाकर ले आए। कहा जाता है कि तब से पश्चिमी देशों में जितना भी रेशम बना है उसके मूल उद्गम ये ही अंडे हैं।

रेशम बनाने का काम कुछ टेढ़ा है। पहले मादा पत्तों पर अंडे देती है। अंडे चिपचिपे होने के कारण पत्तों पर चिपके रहते हैं। कोई दस दिनों में अंडों से छोटे-छोटे

लार्वा निकल आते हैं। फिर इन लार्वा या रेशम के कीड़ों की बहुत सावधानी से जांच होती है। इनमें जो कीड़े रोगी होते हैं उन्हें अलग करके नष्ट कर दिया जाता है। स्वस्थ कीड़ों को तश्तरियों में फैला दिया जाता है, और उन्हें शहतूत की पत्तियां खाने को दी जाती हैं। रेशम उद्योग के लिए हरे-भरे, तेज़ी से बढ़ते रहनेवाले शहतूत के पेड़ उगाना उतना ही जरूरी है, जितना कि रेशम के स्वस्थ कीड़े पैदा करना।

कोई 25 दिनों तक लगातार पत्तियां खाते रहने के बाद ये कीड़े रेशम के कोए कातने लायक हो जाते हैं। अब ये बड़े हो गए होते हैं। इनके वज़न का पांचवां हिस्सा रेशम होता है, जो शरीर के दोनों सिरों पर झिल्ली की दो थैलियों में होता है। दोनों थैलियों से दो नलियां निकलकर मुख के ठीक नीचे स्थित एक छिद्र में मिलती हैं। कीड़े के शरीर से रेशम एक ही तागे के रूप में इसी छिद्र से निकलता है। कीड़ा तागे का एक सिरा किसी पतली लकड़ी या किसी अन्य सहारे से बांधकर रेशम को अपने शरीर पर लपेटने लगता है। तागे को वह अंग्रेज़ी अंक 8 की शक्ल में लपेटता है, जिससे पूरा होने पर कोया बीच में चपटा दीखता है। तागे की यह कताई 24 घंटे में पूरी हो जाती है।

अब कीड़ा कोए के भीतर बढ़ने लगता है। धीरे-धीरे पूरा बढ़कर वह विलक्षण रीति से तितली की शक्ल में बदल जाता है। लेकिन रेशम के सभी कीड़ों को बढ़ने नहीं दिया जाता। जितने कीड़े अंडे देने के लिए जरूरी होते हैं, उतने ही बढ़ने दिए जाते हैं। क्योंकि जब बड़े कीड़े कोए से निकलते हैं, तो कोया तोड़कर बाहर आते हैं। फिर इन कोयों का रेशम कपड़ा बुनने के काम में नहीं लाया जा सकता।

अधिकतर कोयों को रेफ्रीजरेटरों में रखा जाता है जिससे ठंडक के मारे भीतर के कीड़े मर जाएं। फिर उन्हें उबलते पानी मे डालकर ढीला कर लिया जाता है। रेशम को साफ करने और तागे का सिरा खोजने के लिए एक विशेष प्रकार के ब्रश काम में लाए जाते हैं। एक कोए में रेशम का एक ही लम्बा-सा तागा होता है। इसकी लम्बाई 500 गज़ से 1300 गज़ तक हो सकती है।

हज़ारों साल से रेशमी कपड़े को सबसे सुन्दर कपड़ा माना जाता रहा है। अब भी इसके महत्त्व में कमी नहीं हुई है।

रेशे (FIBRES) : हमारे पूर्वज आदिम मानव शुरू-शुरू में जानवरों की खाल से अपना शरीर ढंकते थे। उन दिनों कोई और चीज़ थी ही नहीं। लेकिन धीरे-धीरे उन लोगों ने कुछ रेशों से कपड़ा बनाना सीख लिया। ये रेशे उन्हें कपास, सन आदि के पौधों से प्राप्त हुए। ऊंट, भेड़, याक, घोड़े, आदि जानवरों के बालों के रूप में भी उन्हें कुछ रेशे मिले जिनसे उन्होंने अपने पहनने के कपड़े बनाए। आजकल तो कोयले और पेट्रोल आदि पदार्थों से नकली रेशे भी बनाए जा रहे हैं। नकली रेशों में रेयन और नायलोन आदि प्रसिद्ध हैं (देखें : कपड़ा)
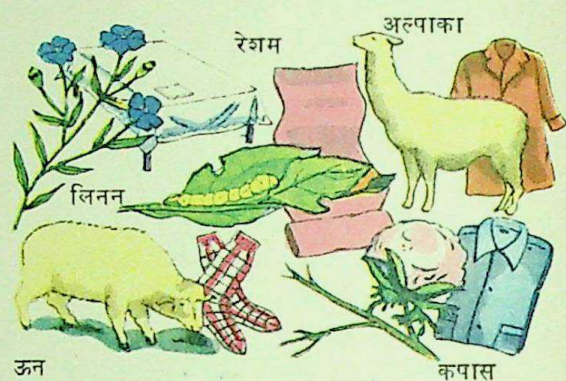
रैंच (RANCHES) : आस्ट्रेलिया और अर्जेण्टाइना में तथा उत्तरी अमरीका के पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी भागों में ऐसे बड़े-बड़े क्षेत्र हैं जिनमें खेती का कोई काम नहीं हो सकता। यहां घास खूब उगती है। घास के इन मैदानों को चरागाह फार्म और पशुपालन केन्द्र बना लिया गया है। इन्हें 'रैंच' कहते हैं। इनमें ढोर चराए जाते हैं और भेड़-बकरियां आदि पाली जाती हैं। इनमें हज़ारों जानवर चरते हैं।

अमरीका और अर्जेण्टाइना अपने इन फार्मों के लिए प्रसिद्ध हैं। आस्ट्रेलिया में ये फार्म 'स्टेशन' कहलाते हैं। तीनों देशों के फार्मों से विपुल मात्रा में मांस निर्यात होता है।

इन फार्मों में जगह की तो कमी होती नहीं, इसलिए एक-मंज़िली इमारतें काफी लम्बी और दूर-दूर तक फैली होती हैं। ये इमारतें लम्बे-चौड़े घास के मैदानों के प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल भी लगती हैं।

हवाई जहाज़ 'रैंच' के जानवरों की रखवाली करते हैं।

रोगन (PAINT) : रोगन का सर्वप्रथम प्रयोग आज से लगभग 10,000 वर्ष पहले के गुहावासी मानवों ने किया था। गुहावासी मानवों ने अपनी कुछ गुफाओं की दीवारों पर रंगीन चित्र बनाए थे। उनके गुहा-चित्रों में से कुछ आज भी सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त, ऐसे चौड़े पत्थर भी मिले हैं जिनपर वे अपने रंजक द्रव्यों को पीसकर तैयार करते थे। ऐसे खोल और सींग भी मिले हैं जिनमें वे अपने रोगन को संचित करते थे। गुहावासी मनुष्य रोगन का प्रयोग अपने चित्रों को अधिक सुन्दर बनाने के लिए करते थे।

आज भी बहुत अधिक रोगन चित्रों को सजाने के काम आता है। लेकिन इससे आज दूसरे कार्य भी सिद्ध होते हैं। अगर लोहे और लकड़ी की चीज़ों पर रोगन पोतकर उन्हें न बचाया जाए तो लोहे में मोर्चा लग जाएगा और लकड़ी सड़ जाएगी।

आजकल रोगन प्रायः रंजक द्रव्यों, गाढ़े घोलों और उन्हें पतला बनानेवाले पदार्थों से तैयार किया जाता है। रंजक द्रव्य और उसको घोलनेवाला द्रव्य तो रंग के सूखने पर हमें रोगन की पर्त पर भी दिखाई देते हैं। पतला करनेवाला द्रव्य रोगन को पतला करके फैलाने में सहायता पहुंचाता है। रोगन लग जाने पर यह द्रव्य उड़ जाता है। कई रोगनों में एक ऐसा पदार्थ भी मिलाया जाता है जिसके कारण रोगन जल्द सूखता है।

आजकल रोगन बनानेवालों को अनेक प्रकार के रंजक द्रव्य प्राप्त हैं। कुछ को प्राकृतिक रंजक द्रव्य कहते हैं। इनमें ओकर (लोहा और ऑक्सीजन मिश्रित खनिज) और दूसरे खनिज पदार्थ सम्मिलित हैं। लेकिन वैज्ञानिकों ने बहुत-से नये रंजक द्रव्यों का आविष्कार किया है। एक प्रकार का रंजक द्रव्य सफेद सीसा है, जिसका प्रयोग 2,000 वर्षों से होता आ रहा है। यह इस अर्थ में बहुत अच्छा होता है कि इसे जिस चीज़ पर पोता जाता है उसे यह पूरी तरह ढक लेता है। टाइटैनियम डाइ-ऑक्साइड एक दूसरा रंजक द्रव्य है, जो सफेद सीसे का स्थान लेता जा रहा है।

बहुत प्राचीन काल में रोगन बनाने के लिए अलसी के तेल को काम में लाया जाता था। आज भी रोगन में बहुत अधिक मात्रा में अलसी के तेल का प्रयोग किया जाता है। लेकिन आजकल रोगन बनानेवालों ने कुछ दूसरी चीज़ों का भी पता लगा लिया है, जिनमें रंजक द्रव्य घोलकर रोगन तैयार हो सकते हैं।

तारपीन का तेल रोगन पतला करने के काम में बहुत दिनों से आ रहा है। अब रोगन को पतला करने के लिए अनेक अच्छे तरल पदार्थ खोज निकाले गए हैं। इनमें से कुछ कोलतार या पेट्रोलियम से भी बनाए जाते हैं।

आजकल रोगन के सम्बन्ध में बहुत अधिक प्रयोग हो रहे हैं। आशा है कि निकट भविष्य में ही ऐसे रोगन प्राप्त हो सकेंगे जो अधिक सुन्दर और आसानी से काम आनेवाले तथा साथ ही अधिक टिकाऊ भी होंगे। नीचे कुछ ऐसे रंग-रोगनों का परिचय दिया गया है जो चित्रांकन में प्रयुक्त होते हैं :

जल रंग (वाटर कलर) पानी मिलाकर पतले किए जाते हैं। ये कागज़ पर रंगने के काम आते हैं और पार-दर्शी होते हैं।

पोस्टर रंगों को भी पानी से ही पतला किया जाता है लेकिन ये जल रंगों से गाढ़े होते हैं, साथ ही ये पार-दर्शी नहीं होते।

केसीन रंगों को छेने से तैयार किया जाता है जो दूध से बनता है। इनका प्रयोग किरमिच के कपड़े, लकड़ी, कागज़ या शीशे पर रंगाई करने में हो सकता है। इन रंगों को भी पानी में मिलाकर काम में लाते हैं।

गुहावासी मानव गुफा की दीवारों पर चित्र बनाता था।

तैल रंग (ऑयल पेंट) तेल में मिलाकर पतले किए जाते हैं। ये खास तौर पर किरमिच के कपड़े या कनवास पर रंगने के लिए अधिक अच्छे रहते हैं।

अन्य कामों में आनेवाले कुछ रोगनों में निम्नलिखित प्रमुख हैं :

इमारती रोगन—रंजक वर्णों को तेल में मिलाया जाता है। ये अधिक टिकाऊ होते हैं।

दीवार के रोगन—रंजक वर्णों को कई तरह के घोलों से तैयार किया जाता है तथा इन्हें पतला करने के लिए कई चीज़ें काम में आती हैं। चूने जैसी कुछ चीज़ें तो पानी में घुल जाती हैं। कुछ में रबर मिला होता है और कुछ में पनीर। कुछ में वार्निश मिली रहती है, जो इन्हें चमक-दार बना देती है। दीवार के रोगन खासकर लकड़ी और पलस्तर पर किए जाते हैं।

इनैमल —इसकी वार्निश किसी चीज़ को बहुत मज़बूत और चमकदार बनाने के काम आती है। ऐसी रंगाई लकड़ी या धातु पर की जाती है।

लेकर—यह या तो प्राकृतिक वार्निश के साथ काम में लाया जाता है या कृत्रिम वार्निश के साथ। यह सूखता बहुत जल्द है। मोटर गाड़ियों की रंगाई में लेकर का ही प्रयोग होता है।

वुड स्टेन—इसमें ऐलकोहल या ऐसी ही दूसरी कोई चीज़ मिलाई जाती है। इसका प्रयोग सादी लकड़ी के लिए किया जाता है। यह पारदर्शी होता है।

चमकदार रोगन—इन रोगनों में रेडियम या ऐसी ही दूसरी चीज़ें मिली रहती हैं, जिनसे ये अंधेरे में चमकते हैं।

लकड़ी की कटाई (LUMBERING) : हमारे काम में आनेवाली अधिकांश लकड़ी जंगली पेड़ों को काटकर प्राप्त की जाती है। लकड़ी इमारती कामों में तथा मेज़-कुर्सी और कागज़ बनाने के काम आती है। कुछ बड़े पेड़ों से टेलीफोन के तार के खम्भे तैयार होते हैं।

पेड़ को गिराने के लिए पहले यह निश्चित कर लिया
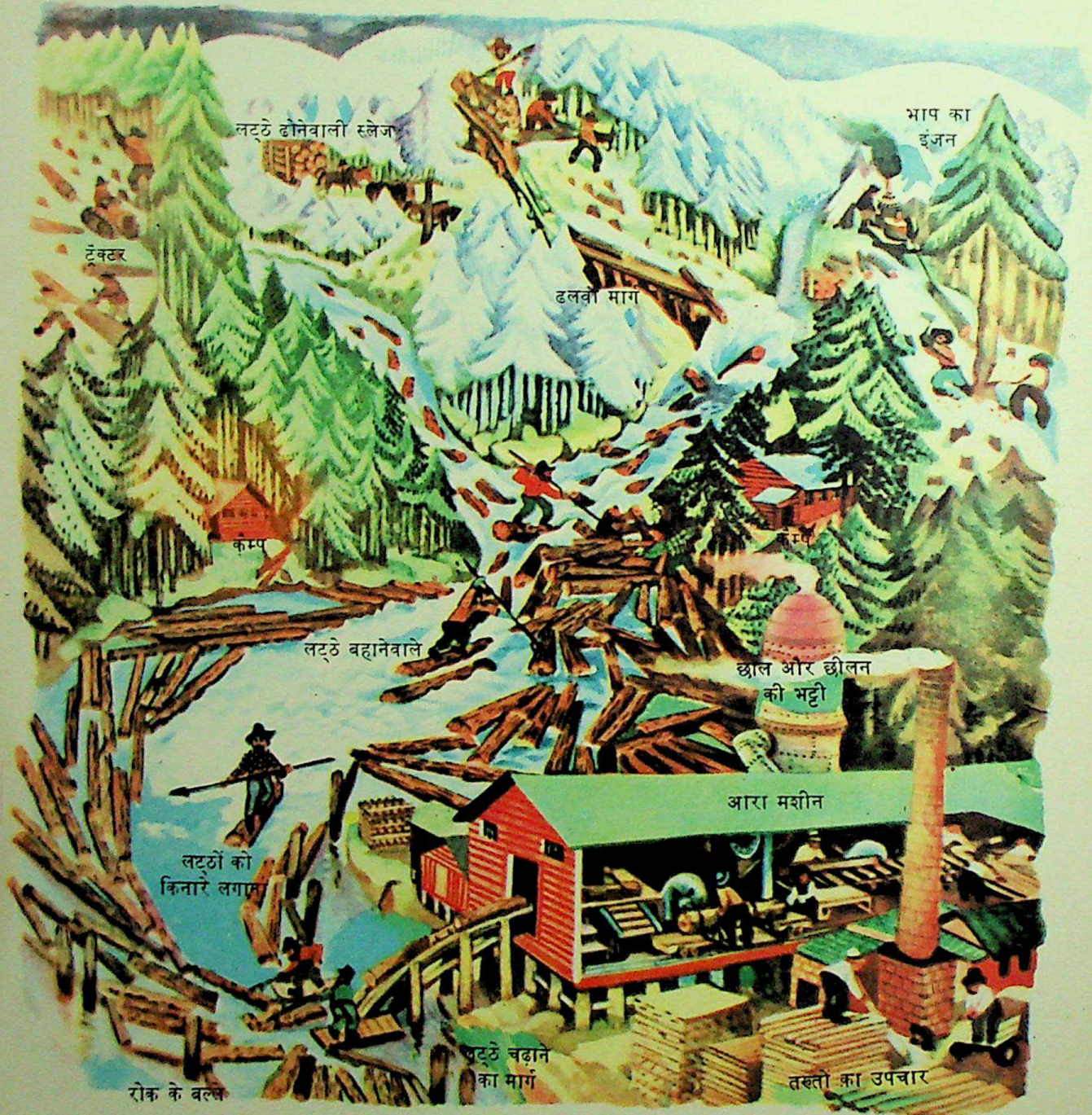
नार्वे में पेड़ काटने के बाद लट्ठों की ढुलाई आम तौर पर स्लेजों से होती है।

जाता है कि पेड़ किस दिशा में गिराया जाए जिससे दूसरे पेड़ों को कम से कम नुकसान हो। इसके लिए पहले उसके तने को उस ओर से जिधर पेड़ को गिराना है कुल्हाड़ी से कुछ दूर तक काट लिया जाता है। फिर दूसरी ओर आरे से पेड़ को काटते हैं। धीरे-धीरे पेड़ झुकने लगता है और धमाके के साथ गिर जाता है।

अब दूसरे लोग उसे काटकर लट्ठे तैयार करते हैं। कटे हुए लट्ठों को एक खुली गाड़ी पर लादते हैं। इन लट्ठों को रेलवे स्टेशन तक पहुंचाने का काम भी आसान नहीं होता। वहां इन्हें ट्रैक्टरों से खींचकर पहुंचाया जाता है। लट्ठों को गाड़ियों पर लादने के लिए उन्हें घिरियों के सहारे ऊपर उठाया जाता है और फिर निश्चित स्थान पर रख दिया जाता है।

लट्ठे पानी के द्वारा भी बहाकर दूर स्थानों को ले जाए जाते हैं। कहीं-कहीं इसके लिए बड़े-बड़े नाले तैयार किए गए हैं। इनमें बहते हुए पानी से लट्ठे बहकर बहुत आसानी से नीचे की ओर चले जाते हैं। जब ये लट्ठे किसी बड़ी नदी, झील या समुद्र में पहुंचते हैं तो इनको बांधकर बेड़ा तैयार कर लेते हैं। लट्ठे इतने हल्के होते हैं कि ये पानी पर आसानी से तैर सकते हैं। इनको बहाकर आरा मिलों तक पहुंचाना भी बहुत कुशलता का काम है। अगर लट्ठों को ठीक से बांधा न गया हो, तो वे खतरनाक भी सिद्ध हो सकते हैं।

कटी हुई लकड़ी के तख्ते बना लिए जाते हैं। ये तख्ते फुट के हिसाब से बिकते हैं। पहले आरा मशीनों पर लकड़ी की छीलन और बुरादे की काफी बर्बादी हुआ करती थी। लेकिन अब बेकार लकड़ी का कागज़ और रेयन आदि बनाने में प्रयोग किया जाता है।

लकड़ी की कटाई अब एक महत्त्वपूर्ण उद्योग हो गया है।

लकड़ियां अक्सर दो तरह की होती हैं। पहली किस्म की लकड़ियां मुलायम होती हैं। इसमें सनोबर और चीड़ की लकड़ियां आती हैं। दूसरी किस्म की लकड़ियां कड़ी होती हैं जिनमें बलूत, महोगनी, अखरोट, शीशम, और टीक की गिनती होती है।

पुराने ज़माने में लोगों को लगता था कि चाहे कितनी भी लकड़ी खर्च की जाए, इसकी कमी नहीं पड़नेवाली है। लेकिन आज दुनिया के काफी जंगल कटकर साफ हो गए हैं। अब जंगलों की रक्षा का बहुत ध्यान रखा जाता है।
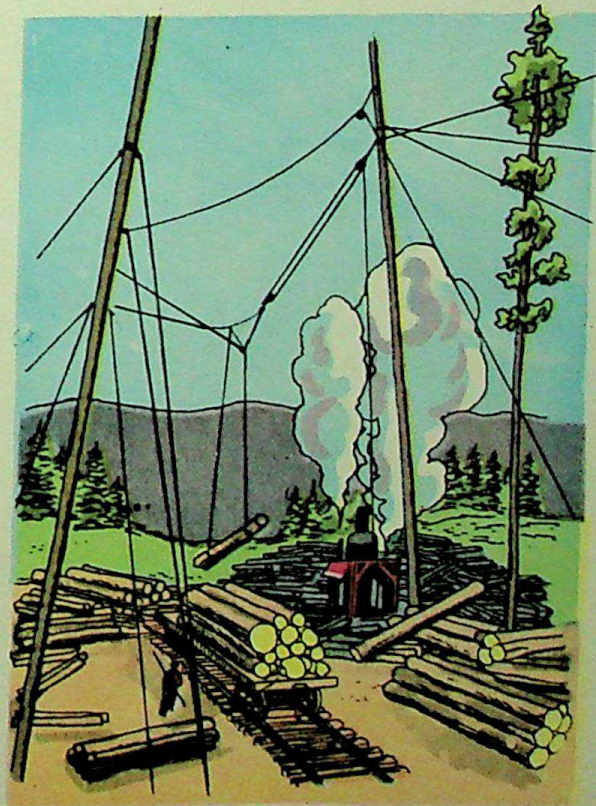
लट्ठों को खुले वैगनों पर लादा जा रहा है।

लकड़ी की नक्काशी (WOOD CARVING) : हज़ारों वर्षों से लोग लकड़ी पर नक्काशी करके सुंदर आकृतियां और मूर्तियां बनाते आ रहे हैं। लकड़ी की नक्काशी प्राचीनतम कलाओं में से एक है। यह पत्थर की नक्काशी से भी पुरानी है, क्योंकि लकड़ी पर नक्काशी करना पत्थर की नक्काशी से आसान होता है। सख्त लकड़ियां तक अधिकतर पत्थरों से मुलायम होती हैं।

मिस्र के फराऊन राजाओं की कब्रों से लकड़ी की 3,000 वर्ष पुरानी प्रतिमाएं मिली हैं, जिनपर पलस्तर या

काष्ठशिल्पी अपने लड़के को अपनी कला सिखा रहा है।

सोना चढ़ा हुआ है, या चमकीली पालिश की हुई है। कुछ में आंखों के स्थान पर रत्न जड़े हुए हैं।

विभिन्न युगों में लकड़ी की नक्काशी पर रंगाई होती रही है और आज भी होती है। लेकिन आजकल अनेक काष्ठशिल्पी यह मानते हैं कि लकड़ी अपने आप में इतनी सुन्दर होती है कि उसपर रंगाई की कोई आवश्यकता नहीं होती।

आज से चार-पांच सौ वर्ष पूर्व लकड़ी पर अत्युत्तम नक्काशी होती थी। महलों और बड़े-बड़े गिरजों में लकड़ी की सुन्दर नक्काशी करवाई जाती थी। गिरजों में बाइबिल के पात्रों की मूर्तियों की भी बहुत मांग रहती थी। नावों और बड़े-बड़े पोतों के अगले सिरे पर सुन्दर आकृतियां बनाई जाती थीं। आज लोग सादे फर्नीचर और सादी दीवारों को अधिक पसन्द करते हैं। इसीलिए आज के अधिकतर काष्ठशिल्पी छोटी आकृतियां ही बनाते हैं।

लिनन (LINEN) : जिस कपड़े को हम लिनन कहते हैं वह पटसन के रेशों से तैयार होता है। पटसन के रेशों की
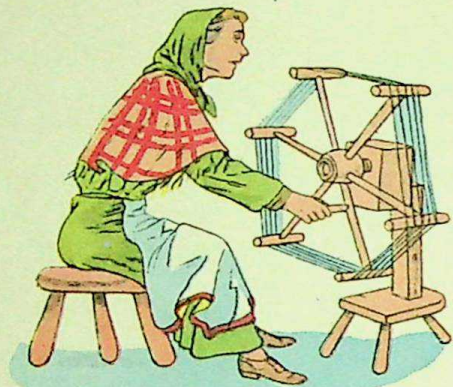
पटसन के रेशों से लिनन तैयार किया जाता है।

खोज बहुत पहले हुई थी, क्योंकि हज़ारों वर्ष से लिनन की बुनाई होती आई है। मिस्र के लोग पिरामिड बनाने के बहुत पहले से लिनन तैयार करते थे। मिस्र की ममियां लिनन के कपड़े में लपेटी गई थीं।

लिनन तैयार करने के लिए पहला काम पाट को काटकर सड़ाना होता है। यह काम या तो पाट को पानी में डुबाकर करते हैं या किसी रसायन के द्वारा। फिर डंठल से रेशों को अलग कर लेते हैं। इसके बाद रेशों को कंघे से सीधा करके फैला लेते हैं। अब इनसे धागे काते जाते हैं।

लिनन के बुने हुए कपड़े महीन और मोटे दोनों प्रकार के होते हैं। नावों के पाल लिनन के बहुत मोटे कपड़े से बनते हैं। मेज़पोश, तौलिये और पहनने आदि के कपड़े भी लिनन से बनते हैं।

सैकड़ों वर्ष तक लिनन की सारी बुनाई हाथ से होती रही। आज भी उत्तम बुनाई हाथ से ही की जाती है। लेकिन अब अधिकांश लिनन मशीनों से बुना जाता है।

लिनन के धागे का उपयोग कपड़ा बुनने के ही काम नहीं आता। इसका उपयोग लैस आदि के रूप में भी होता है। अनेक गलीचे लिनन से तैयार होते हैं। जूते आदि की सिलाई में भी लिनन के मोटे धागों को काम में लाते हैं। (देखें : सन)

लिनोलियम और ऑयल क्लाथ (LINOLEUM AND OILCLOTH) : पतले कपड़े पर सफेदा और रोगन चढ़ाकर 'ऑयल क्लाथ' बनाया जाता है। यह शब्द अंग्रेज़ी के दो शब्दों 'ऑयल' (तेल) और 'क्लाथ' (कपड़ा) से बना है। कभी-कभी इसे मोमजामा भी कहते हैं। लिनोलियम लैटिन के दो शब्दों से मिलकर बना है। ये शब्द हैं 'लाइनम' (पटसन) और 'ओलियम' (तेल)। अलसी के तेल में कार्क, गोंद और रंग मिलाकर इसे एक मोटे टाट पर जमाकर दबा देते हैं। इस तरह लिनोलियम तैयार हो जाता है। ऑयल क्लाथ और लिनोलियम दोनों पर पानी का असर नहीं होता।

ऑयल क्लाथ मेज़ और गद्दियों के ऊपर मढ़ने के काम आता है। लिनोलियम फर्श पर बिछाने के लिए बहुत अच्छा होता है।

आज से 1,000 वर्ष से भी पहले ऑयल क्लाथ बनते थे। चीनी लोग इसे छाता बनाने के काम में लाते थे। लिनोलियम बहुत हाल की खोज है। सन् 1860 में फ्रेडरिक वाल्टन ने इसे बनाया था। वाल्टन फर्श पर बिछाने के लिए किसी ऐसी चीज़ का आविष्कार करना चाहता था जिसे आसानी से साफ किया जा सके और जिसके ऊपर चलने से आवाज़ न हो।

लिनोलियम कई तरह के होते हैं। कुछ में नमूने पूरे टाट में ही बने होते हैं और कुछ में ऊपर से छपे होते हैं जो बाद में घिसकर मिट जाते हैं।

लिनोलियम की कुछ इतनी बड़ी चद्दरें बनती हैं कि एक से ही पूरा फर्श ढक सकता है।

लेंस (LENSES) : पढ़ने के चश्मे से अक्षर बड़े दिखाई देते हैं। सूक्ष्मदर्शी के सहारे ऐसे जीवों और पौधों को देखा जा सकता है जो सिर्फ आंख से नहीं देखे जा सकते।

उत्तल लेंस (आकृति को बढ़ाता है)
अवतल लेंस (आकृति को घटाता है)
लेंसों की किस्में
उत्तल की आड़ी काट
अवतल की आड़ी काट
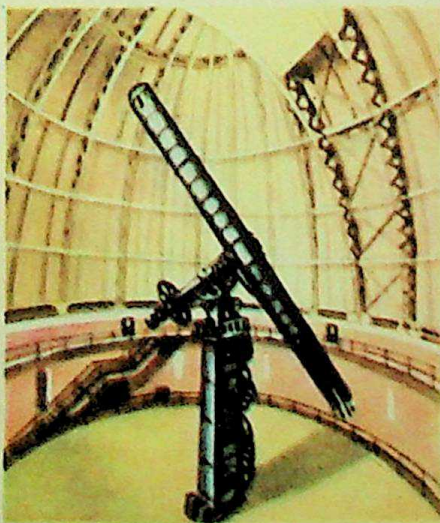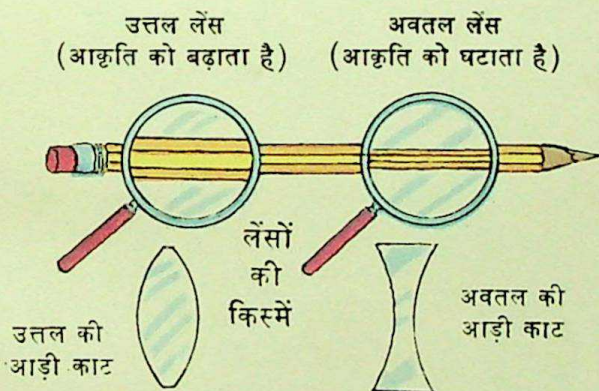
इस वर्तन दूरदर्शी में 40 इंच का लेंस लगा है।

पढ़ने के चश्मे और सूक्ष्मदर्शी से चीज़ें बड़ी इसलिए दिखाई देती हैं कि उनमें लेंस लगे होते हैं। लेंस शीशे या किसी अन्य पारदर्शी चीज़ का एक ऐसा टुकड़ा होता है जिसका कम से कम एक तल टेढ़ा होता है।

ऑपेरा ग्लास, दूरदर्शी, कैमरा और प्रोजेक्टर आदि में लेंस लगे होते हैं। हर लेंस चीज़ों के आकार को बढ़ाकर ही नहीं दिखाता है। कुछ लेंस आकार को छोटा करके भी दिखाते हैं। लेंस का प्रयोग कैमरे की फिल्म पर चित्र को उतारने या दीवार अथवा परदे पर चित्र को फेंकने के लिए भी होता है। ये चित्र या तो बड़े हो सकते हैं या छोटे।

लेंस अनेक शक्लों के होते हैं। इनके लिए हम उत्तल (कॉन्वेक्स) और अवतल (कॉन्केव) शब्द का प्रयोग करते हैं। उत्तल का अर्थ ऐसा लेंस है जिसका बीच का भाग बाहर की ओर निकला हो। अवतल का अर्थ ऐसे लेंस से है जिसका बीच का भाग अन्दर की ओर दबा हो। एक लेंस में एक ओर का तल सपाट हो सकता है और दूसरी ओर का उत्तल (D) हो सकता है, या अवतल ([( ) हो सकता है। दोनों तल उत्तल (()) हो सकते हैं, या दोनों अवतल ( )( ) हो सकते हैं। इसी तरह एक ओर का तल उत्तल और दूसरा अवतल ((((( ) हो सकता है।

लेंस में से होकर गुज़रनेवाली किरणें जिस तरह मुड़ती हैं उसीके अनुसार चीज़ें छोटी या बड़ी दिखाई देती हैं। किरणें लेंस के सबसे मोटे भाग की ओर को मुड़ती हैं। उत्तल लेंस से देखने पर चीज़ें बड़ी दिखाई देती हैं और अवतल से छोटी।

दुनिया के सबसे बड़े लेंसों में से एक यर्केज़ वेधशाला में है। यह 40 इंच चौड़ा है। इसकी सहायता से ज्योतिर्विद करोड़ों मील दूर के उन तारों को देख सकते हैं जिन्हें सिर्फ आंखों के सहारे नहीं देखा जा सकता।

वन और वनोद्योग (FORESTS AND FORESTRY) : सबसे घने जंगल उष्णकटिबंध के गर्म-नम जलवायु वाले प्रदेशों में पाए जाते हैं, जैसे : दक्षिणी अमरीका में अमेज़न नदी का थाला, मध्य अफ्रीका में कांगो नदी का थाला और दक्षिणी एशिया में मानसूनी जलवायु वाले प्रदेश। इन प्रदेशों में गर्मी और नमी की बहुतायत होती है। लेकिन, धूप पाने के लिए पेड़ को अपने पड़ोसियों से ऊंचा होना पड़ता है। इस कारण इन जंगलों के पेड़ ऊंचे होते हैं और उनके तनों पर पत्तियां काफी ऊंचाई से लगनी शुरू होती हैं। लट्ठे बनाने के लिए ऐसे पेड़ सबसे अच्छे माने जाते हैं।

उत्तरी अमरीका, एशिया और यूरोप के उत्तरी भागों में कोनीफेरस जंगलों की एक विशाल पट्टी चली गई है। कोनीफर (नुकीली पत्तियोंवाले) पेड़ मृदुकाष्ठ या मुलायम लकड़ीवाले और अत्यंत मूल्यवान होते हैं। प्रायः ऐसा

वनों से प्राप्त होनेवाली वस्तुएं

होता है कि पूरे जंगल में एक ही प्रकार के कोनीफर पेड़ होते हैं, जैसे चीड़ या डगलस फर। इससे पेड़ों की कटाई बड़ी आसान हो जाती है। इसी कारण इन उत्तरी प्रदेशों में लकड़ी काटना एक प्रमुख उद्योग है।

पर्णपाती या चौड़ी पत्तियोंवाले पेड़ (जो पतझड़ में अपनी पत्तियां गिरा देते हैं) शीतोष्ण अक्षांशों, जैसे पश्चिमी यूरोप, दक्षिणी अमरीका और दक्षिणी आस्ट्रेलिया, में पाए जाते हैं। ये पेड़ प्रायः मूल्यवान, दृढ़काष्ठ या कड़ी लकड़ीवाले होते हैं। इनकी इतनी अधिक कटाई हो चुकी है कि अब इस प्रकार के बहुत कम पेड़ शेष हैं। पर्णपाती पेड़ों में शाहबलूत और देवदारु आदि प्रमुख हैं।

किसी देश के वन उसकी संपत्ति का एक अंग माने जाते हैं। वनों से हमें इमारतों के लिए लकड़ी मिलती है। कागज़ और प्लास्टिक वगैरह के लिए भी लकड़ी जंगलों से ही प्राप्त होती है। कुछ पेड़ों से मेवे और फल प्राप्त किए जाते हैं, और कुछ से ओषधियां और तारपीन का तेल आदि चीज़ें। इन चीज़ों के अलावा जंगलों का एक और भी महत्त्वपूर्ण लाभ है। पहाड़ों पर होनेवाली वर्षा का पानी जंगलों से होकर बहने के कारण काफी धीमा पड़ जाता है। इस प्रकार जंगल बाढ़ों को रोकने में सहायक होते हैं। उनसे भूक्षरण भी रुकता है।

बहुत समय पहले पृथ्वी पर आज के मुकाबले कहीं अधिक जंगल थे। मनुष्य ने बहुत-से जंगलों को साफ करके वहां खेती शुरू कर दी। मनुष्य के अलावा अग्नि भी जंगलों की प्रमुख शत्रु है। अब तक लाखों-करोड़ों पेड़ अग्नि की भेंट चढ़ चुके होंगे। कभी-कभी जंगल की आग बिजली गिरने से लगती है, किन्तु कई बार जंगल में मंगल मनाती हुई पार्टियों द्वारा लापरवाही से फेंकी गई सिगरेट भीषण अग्निकांड मचा देती है। इसीलिए आजकल सभी देशों के राष्ट्रीय जंगलों के रखवाले या 'फारेस्ट रेंजर' पेड़ों की सावधानी से देखभाल करते हैं। वे अपने ऊंचे गुंबदों पर से देखते रहते हैं, और जंगल में आग के लक्षण दिखाई देते ही उसे बुझाने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित आग बुझानेवालों को भेज देते हैं।
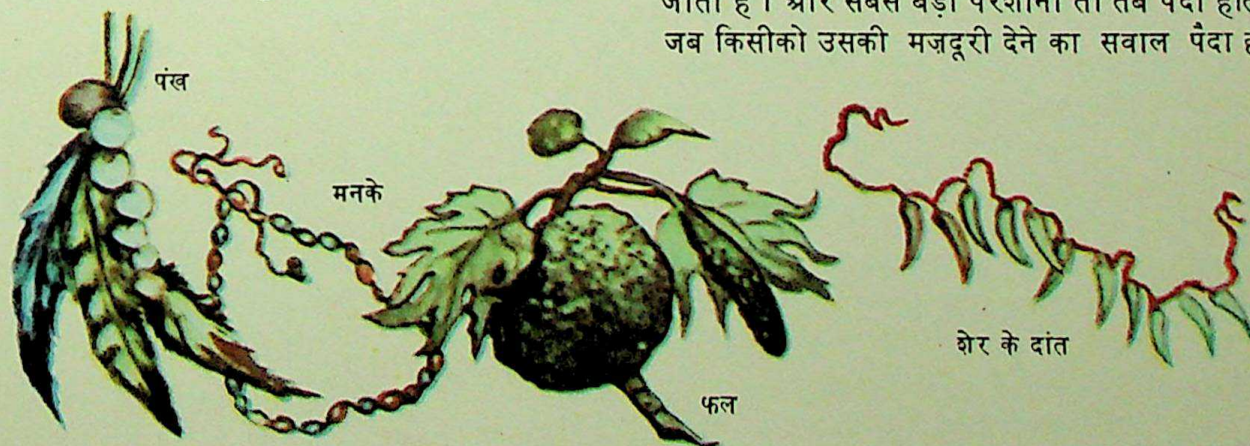
भारत एक विशाल देश है और उसकी वन-संपत्ति भी विशाल है। यों तो भारत संघ के प्रायः सभी राज्य वन-संपत्ति की दृष्टि से संपन्न हैं, लेकिन हिमाचल प्रदेश, असम, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल और मध्य प्रदेश के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। जंगलों के निकट के मैदानी इलाकों में लकड़ी के व्यापार के कारण बड़ी-बड़ी मंडियां स्थापित हो जाती हैं। (देखें : जंगल)

वस्तु-विनिमय (BARTER) : धन के उपयोग के बिना व्यापार करने की प्रथा हमारे देश तथा संसार के कुछ भागों में अभी तक प्रचलित है। इसमें होता यह है कि किसी एक चीज़ या चीज़ों के बदले में दूसरी चीज़ या चीज़ें ले ली जाती हैं, जैसे एक बकरी देकर बदले में 20 किलो आटा और 10 मीटर कपड़ा ले लिया, या 50 किलो गेहूं के बदले कुछ कपड़ा, तंबाकू, लकड़ी और तेल ले लिया। असल में वस्तु-विनिमय व्यापार का एक पुराना और पिछड़ा हुआ तरीका है और इसकी शुरूआत उस ज़माने में हुई थी जब आदमी ने धन या मुद्रा का आविष्कार नहीं किया था। कई और पुरानी बातों की तरह अभी तक इसका चलन भी पूरी तरह बंद नहीं हुआ है।

लेकिन मुद्रा के बिना खरीद-बिक्री का तरीका कोई बहुत सुविधाजनक तरीका नहीं है, बल्कि इसमें काफी कठिनाई होती है। मान लीजिए, मुझे घोड़े की ज़रूरत है। आपके पास घोड़ा है और आप उसे देने के लिए तैयार भी हैं। मगर आप उसके बदले में एक भैंस चाहते हैं, जबकि मेरे पास कंबल है, भैंस नहीं है।

एक और भी कठिनाई है और वह यह कि कुछ चीज़ों के टुकड़े नहीं किए जा सकते। मेरे पास एक मोती है और मैं होटल में खाना खाना चाहता हूं। लेकिन मोती से तो कई वक्त का खाना मिल सकता है। एक वक्त के खाने के लिए मैं मोती को तोड़ भी नहीं सकता। फिर वस्तु-विनिमय में मोल-भाव करने में भी बहुत समय नष्ट हो जाता है। और सबसे बड़ी परेशानी तो तब पैदा होती है जब किसीको उसकी मज़दूरी देने का सवाल पैदा होता

वस्तु-विनिमय की कुछ चीज़ें

पंख

मनके

फल

शेर के दांत

प्राचीन काल के वस्त्र
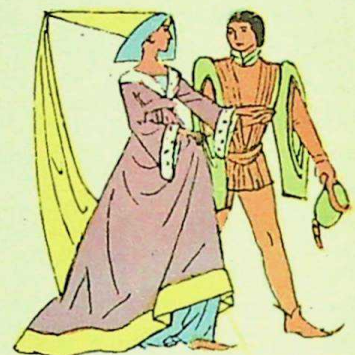
मिस्री यूनानी अमरीकी रेड इंडियन यूरोपीय—14वीं शताब्दी

है। मेरे कारखाने में मोटरें बनती हैं। अब मैं अपने मज़दूरों को मज़दूरी कैसे दूं? क्या बदले में मोटरें देकर?

वस्तु-विनिमय में इस तरह कितनी ही परेशानियां हैं और उनका हल आसानी से हो नहीं सकता। इसीलिए आखिर आदमी ने मुद्रा का आविष्कार किया। मुद्रा के उपयोग से इस तरह की परेशानियां दूर हो जाती हैं। (देखें : मुद्रा ; व्यापार)

वस्त्र (CLOTHING) : यदि अरब और एस्कीमो एक ही प्रकार के वस्त्र पहनें तो बुद्धिमानी नहीं होगी। अरब रेगिस्तान में घूमता है तो उसके सफेद ढीले वस्त्र उसे सूर्य के तीव्र प्रकाश और गर्मी से बचाते हैं। एस्कीमो बर्फीले देशों में रहता है। दोहरी खालों के बालदार वस्त्र उसे हवा और ठंडक से बचाते हैं। लोगों के वस्त्र जलवायु के अनुसार होते हैं। पर वस्त्र श्रृंगार के लिए भी पहने जाते हैं।
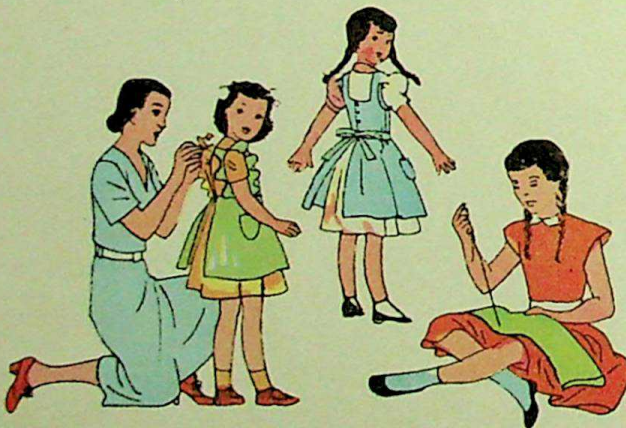
वैज्ञानिकों का विचार है कि मनुष्य ने वस्त्र को पहले श्रृंगार के लिए और बाद में बचाव के लिए पहना। बहुत-सी असभ्य जातियों के लोग आज भी वस्त्र नहीं पहनते, अथवा बहुत कम पहनते हैं। पर वे श्रृंगार करते हैं।

पहले लोगों के वस्त्र देखकर यह कहना सरल था कि कोई व्यक्ति किस देश का है। पर अब रीतियां बदल रही हैं। रेडियो, टेलीविज़न और हवाई जहाज़ों के कारण देश एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं। दूसरे विचारों की भांति वस्त्रों के विचार भी फैल रहे हैं। पहले जो वस्त्र नित्य पहने जाते थे, वे अब विशेष अवसरों पर पहने जाते हैं। यूरोपीय ढंग के वस्त्र अब संसार के सब देशों में फैलते जा रहे हैं।

कपड़े श्रृंगार के लिए भी पहने जाते हैं, इसलिए उनके ढंग बदलते रहते हैं। यहां दिए हुए चित्रों से पता चलता है कि ये ढंग किस प्रकार बदलते रहे हैं। बड़ों की तरह बच्चों के वस्त्रों के ढंग भी बदले हैं। कुछ लोगों को मनमाने वस्त्र पहनने की छूट नहीं होती। उन्हें वर्दी पहननी होती है। सिपाही अपनी वर्दी से पहचाने जाते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि वे क्या काम करते हैं, उनका पद क्या है।

प्राचीन काल में लोगों को वस्त्र बनाने की बहुत-सी वस्तुओं का पता न था। वे केवल पशुओं की खालों, पत्तियों और घासों का उपयोग करते थे। शायद मनुष्य ने सबसे पहला वस्त्र सन के रेशों से बुना था। यह लिनन कहलाता है। लिनन बनाने की विधि हज़ारों वर्ष पहले मालूम हो गई थी। मिस्र के खंडहरों में जो पुराने शव पाए गए हैं, वे लिनन में लिपटे हुए थे।

एस्कीमो

विभिन्न कालों और स्थानों के वस्त्र

शायद मनुष्य ने दूसरा कपड़ा ऊन से बुना। ऊन गर्म होता है और बहुत दिन चलता है। रुई और रेशम भी हज़ारों वर्ष पुराने हैं। भारत में लोग ईसा से 2,000 वर्ष पूर्व भी रुई के वस्त्र बुनते थे। चीनवाले सदियों रेशम बनाने का भेद छिपाए रहे। पुराने व्यापारी पूर्व के देशों से जो अमूल्य वस्तुएं यूरोप ले जाते थे उनमें रेशम भी होता था।

आज हम ऐसी सैकड़ों वस्तुओं को जानते हैं जिनसे वस्त्र बनाए जा सकते हैं। रेयन और नायलोन उन नये मानव-निर्मित रेशों में से हैं जिनसे वस्त्र बनाए जा रहे हैं।

आज संसार में लोगों के पास जितने वस्त्र हैं उतने कभी नहीं थे। इसका एक कारण सीने की मशीनें हैं। अब कारखानों में सिले हुए तैयार वस्त्र भी बाज़ार में मिलते हैं। (देखें : कपड़ा)

विज्ञापन (ADVERTISING) : विज्ञापन का हमारे जीवन में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है। बाज़ार में हम खाने-पीने की चीज़ों के जो डिब्बे या बोतलें खरीदते हैं, उनपर छपे शब्द विज्ञापन ही हैं। रात को रेडियो सीलोन पर गानों के साथ-साथ अलग-अलग चीज़ों का जो गुणगान किया जाता है, वह भी विज्ञापन ही है। सिनेमाघरों में दिखाए

जानेवाले ट्रेलर और फिल्म से पहले दिखाई जानेवाली स्लाइडें भी विज्ञापन ही हैं।

अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में तो विज्ञापनों की भरमार होती है—'रिक्त स्थान', 'अदालती सूचना', 'वैवाहिक', 'आवश्यकता है' आदि छोटे-छोटे विज्ञापनों के उदाहरण हैं, तो सिनेमा, साबुन, तेल, कपड़ा, ऊन आदि के बड़े-बड़े विज्ञापन उनमें कितने ही होते हैं। सड़कों पर, चौराहों पर, ऊंचे मकानों पर सभी जगह विज्ञापन लगे नज़र आते हैं।

देखने में विज्ञापनों में चाहे कितना ही भेद हो, उनका उद्देश्य एक ही होता है—लोगों को अपनी ओर खींचना, अपने बारे में बताना और अपने लिए मांग पैदा करना।

बहुत पुराने ज़माने में, जब आदमी जंगली जीवन बिताता था, विज्ञापन न थे और न उनकी ज़रूरत ही थी। पर सभ्यता के आरंभ से ही विज्ञापन हमारे साथ चले आ रहे हैं। बाज़ार में दूकानदार का चिल्ला-चिल्लाकर अपना माल बेचना भी विज्ञापन ही है। एजेंटों और दलालों के ज़रिये अपने माल का प्रचार भी विज्ञापन ही है। कैलेंडरों और तसवीरों पर अपने माल के बारे में छापकर बांटना, अखबारों में तरह-तरह से उनके बारे में विज्ञप्तियां देना—यह सब विज्ञापन के ही अलग-अलग रूप हैं।

लगभग सभी देशों में विज्ञापन एक बड़ा भारी व्यवसाय बन गया है और इससे हज़ारों-लाखों आदमियों की रोज़ी चलती है। (देखें : आकाश-लेख)

वृक्ष-शल्यकर्म (TREE SURGERY) : बीमार-वृक्षों के इलाज को वृक्ष-शल्यकर्म कहते हैं। अगर किसी वृक्ष का तना गलना शुरू हो जाए तो वृक्ष-शल्यचिकित्सक उसके गले हुए हिस्से को साफ कर देता है। वह छेद पर किसी ऐसी चीज़ का लेप कर देता है जो वृक्ष को और गलने से बचाती है। अगर छेद बड़ा होता है तो वह उसमें सीमेंट या इसी तरह की कोई दूसरी चीज़ भर देता है। उसका काम बहुत कुछ दंत-चिकित्सक के दांत भरने के काम जैसा होता है। जब वृक्ष के तने से कोई भारी शाखा टूटने को होती है, तो उसे रोकने के लिए एक तरह की बंधनी की आवश्यकता होती है। अगर ज़रूरी होता है तो चिकित्सक वृक्ष की कुछ शाखाओं को छांट भी देता है। जब भी वह कोई काट-छांट करता है तो इस बात का ख्याल रखता है कि वहां किसी ऐसी चीज़ का लेप कर दे जिससे कीटाणु और कीड़े-मकोड़े आदि वृक्ष को नुकसान न पहुंचा सकें।

व्यापार (TRADE) : व्यापार के पीछे मूल बात यह है कि आदमी अपने पास की चीज़ देकर ज़्यादा ज़रूरी चीज़ हासिल करता है। व्यापार की शुरूआत कब और कहां हुई—इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। हम तो केवल इतना ही जानते हैं कि जब इतिहास-लेखन आरम्भ हुआ तब तक व्यापार खूब चल निकला था।

शुरू में व्यापारी का काम मध्यस्थ का था। मान लीजिए कोई आदमी डलिया बनाता था। वह अपनी

आरंभ में लोग चीज़ें खरीदने की बजाय, उनकी अदला-बदली करते थे

डलिया व्यापारी के पास रख जाता था। कपड़ा बुनने वाला ग्रादमी उस व्यापारी के यहां कपड़ा रख जाता था। इसी तरह दूसरे लोग ग्रपनी-ग्रपनी चीज़ें रख जाते थे ग्रौर उनके बदले में दूसरी चीज़ें ले जाते थे। जब मुद्रा का ग्राविष्कार हो गया तो व्यापार बहुत तेज़ी से फैलने लगा।

प्राचीन यूनानियों के ज़माने में भी व्यापारी एक देश से दूसरे देश में जाते थे। मध्यवर्ती युगों में यूरोप ग्रौर एशिया के देशों के बीच ग्रनेक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग स्थापित हो चुके थे।

ग्राजकल हम बाज़ार में जाकर वहां से ग्रपनी ज़रूरत का सामान खरीदने के इतने ग्रादी हो चुके हैं कि हमारी नज़र इस बात पर नहीं जाती कि व्यापार की किन-किन ग्रवस्थाग्रों से गुज़रने के बाद ये चीज़ें हम तक पहुंचती हैं। लिखने की पेंसिल एक मामूली-सी चीज़ है, लेकिन इसके तैयार होने में जो सामान लगता है वह ग्रनेक स्थानों से मंगवाया जाता है। यह सारा सामान जुटाकर कारखाने में पहुंचाने ग्रौर कारखाने से तैयार सामान दूकान पर पहुंचाने में न जाने कितना व्यापार हो चुका होता है।

यह ज़रूरी नहीं है कि हम खरीदारी करने के लिए बाज़ार में ही जाएं। बहुत-से लोग सूचीपत्र देखकर ग्रपनी ज़रूरत की चीज़ों का ग्रार्डर दे देते हैं ग्रौर उन्हें वे चीज़ें डाक द्वारा घर बैठे मिल जाती हैं। ग्राजकल करोड़ों लोग व्यापार करके ग्रपनी जीविका चलाते हैं।

(देखें : क्रय-विक्रय; मुद्रा; वस्तु-विनिमय)

शीशा (GLASS) : मनुष्य ने ग्रपने काम की बहुत-सी चीज़ें बनाई हैं। इनमें शीशा या कांच सबसे ग्रधिक उपयोगी वस्तुग्रों में से एक है। ग्रगर शीशा न हो तो शीशे की खिड़कियां, मोटर गाड़ियों के शीशे, सूक्ष्मदर्शी ग्रौर दूरदर्शी, फोटो खींचने के कैमरे, थर्मामीटर, गिलास, बिजली के बल्ब, रेडियो के वाल्व, टेलीविज़न के ट्यूब ग्रौर विज्ञान के काम के लिए ज़रूरी ग्रौर बहुत-सा सामान भी न बन सके। ये केवल कुछ चीज़ें हैं जिनके बनाने में शीशा काम ग्राता है।

लोहे की पोली नली में से फूंककर फ्लास्क बनाया जा रहा है।

फूंककर बनाए गए फ्लास्क को काटा जा रहा है।

शीशा बड़ी विचित्र चीज़ है। यह वास्तव में तरल पदार्थ है, लेकिन बनते-बनते ही ठंडा हो जाता है ग्रौर जम जाता है। शीशा बनाने का साधारण तरीका यह है : रेत (सिलिकन ग्रॉक्साइड) या ऐसी ही किसी चीज़ के साथ चूना ग्रौर सोडा ऐश मिलाकर गर्म कीजिए। रेत तरल हो जाएगी ग्रौर शीशा बन जाएगा। शीशा बनाने की तरकीब कोई दो हज़ार वर्षों से मालूम है। मिस्रवासी कांच के मनके बनाते थे ग्रौर मिट्टी की मूर्तियों के ऊपर कांच की हलकी पर्त चढ़ाते थे, जिसे हम ग्लेज़ करना कहते हैं। वे खिड़कियों में शीशे लगाते थे, इसके दर्पण बनाते थे ग्रौर शीशे के रंगबिरंगे टुकड़ों की मदद से चित्र भी बनाते थे। बाद में रोमवासियों ने पिघले हुए शीशे को लोहे की पोली नली के ऊपर उठाकर तथा नली द्वारा शीशे को फूंककर बर्तन या बोतलें बनाना जान लिया।

मध्ययुग में वेनिस (इटली) में शीशे की चीज़ें दुनिया में सबसे ग्रधिक बनती थीं। वेनिस के कारीगर शीशे की परियां, गुलदस्ते तथा ऐसे ही ग्रन्य बर्तन बनाते थे।

फ्रांस में सीन नदी के किनारे ग्रौर जर्मनी में राइन नदी के तट पर बसे नगरों में खिड़कियों के शीशे बनाने के तरीकों का विकास किया गया। वेनिस में शीशे बनाने की कला सीरिया से पहुंची। इंग्लैंड में यह कला तेरहवीं सदी में ग्राई। वहां शीशे का सबसे पुराना काम लन्दन के प्रसिद्ध गिरजाघर वेस्टमिंस्टर ऐबी की खिड़कियों में देखने को मिलता है। इनमें लगे शीशों को एक नॉर्मन कारीगर ने ढाला था।

उन्नीसवीं सदी के ग्रारंभ में एक ग्रमरीकी ने कांच

बनाने की मशीन तैयार की। कांच की चीज़ें फूंककर बनाने की बजाय, उन्हें ढालने के लिए सांचा बनाया गया। सन् 1899 में बोतलें बनाने की मशीन बनी। इसके बाद तो कांच की बहुत-सी चीज़ें बनने लगीं। बहुत-सी चीज़ें अब भी फूंक से बनाई जाती हैं। लेकिन आजकल अधिकतर चीज़ें मशीनों से ही बनती हैं।

भारत में 'नैनी' (इलाहाबाद के पास), कलकत्ता, लुधियाना, दिल्ली आदि में शीशे की चीज़ें बनाने के कारखाने हैं। फीरोज़ाबाद की कांच की चूड़ियां तो देश-विदेश में प्रसिद्ध हैं।

कांच पर आग, पानी और बहुत-से तरल पदार्थों का प्रायः कोई असर नहीं पड़ता। इसकी खराबी यह है कि यह बड़ी जल्दी टूट जाता है। लेकिन अब न टूटनेवाला कांच भी बनने लगा है। (देखें : अभिरंजित शीशा)

संकर पशु और पौधे (HYBRIDS) :

कुछ जानवरों के माता-पिता दो भिन्न नस्लों के होते हैं, जैसे खच्चर की मां घोड़ी होती है और पिता गधा। खच्चर दो भिन्न जानवरों—घोड़े और गधे—की संकर या दोगली सन्तान होता है। इसी तरह दूसरे संकर जानवर भी होते हैं। ज़ेबरायड ज़ेबरा और घोड़े का संकर है। बछपाड़ा गाय और जंगली भैंसे का संकर है। नदिया सांड का विभिन्न जानवरों के साथ संयोग कराकर बहुतेरे संकर पशु उत्पन्न किए गए हैं।

इसी प्रकार संकर पौधे भी होते हैं। अधिकतर संकर पौधे मिलती-जुलती किस्म के पौधों के मेल से पैदा किए जाते हैं। लेकिन कुछ पौधे ऐसे पौधों के मेल से उत्पन्न किए जाते हैं जो अधिक मिलते-जुलते नहीं होते।

कुछ संकर पशु-पौधे संयोग से पैदा हो जाते हैं, दूसरे कुछ मनुष्य द्वारा पैदा कराए जाते हैं।

गुलाब की संकर नस्ल तैयार करने के लिए माली को काफी प्रयास करना पड़ता है। गुलाब के फूल में कुछ परागकेसर होते हैं जो पराग-रेणु उत्पन्न करते हैं। गर्भकेसर में बीजाणु-डिम्ब होते हैं। बीजाणु-डिम्ब से ही बीज तैयार होते हैं। पराग-रेणु में नर कोशिकाएं होती हैं। बीजाणु-डिम्ब में मादा कोशिकाएं होती हैं। बीजाणु-डिम्ब के बढ़कर बीज बनने के लिए यह ज़रूरी है कि पराग-रेणु का एक कण गर्भकेसर पर उतरकर अपनी एक नलिका को बीजाणु-डिम्ब तक पहुंचाए।

माली दो मनचाही जातियों के गुलाब के फूलों को चुन लेता है और एक जाति के गुलाब की पंखुड़ियों और परागकेसर को अलग कर लेता है। गर्भकेसर को ज्यों का त्यों छोड़ देता है। दूसरी जाति के गुलाब के फूल से पराग-रेणु लेकर वह इसपर छिड़क देता है। फिर वह गर्भकेसर को कागज़ की एक थैली से इस तरह ढंक देता है कि दूसरी पराग-रेणु उसपर न पहुंच सके। इस तरह जो बीज तैयार होते हैं उनसे ऐसे पौधे उगते हैं जिनके फूलों में गुलाब की दोनों जातियों के फूलों की कुछ-कुछ विशेषताएं मौजूद होती हैं। हम संकर पशुओं और पौधों को 'इच्छानुसार बनाई हुई सजीव वस्तुएं' कह सकते हैं।

(देखें : कलम लगाना ; पौधों की नस्ल सुधारना)

संगीत पेटियां (MUSIC BOXES) :

चित्र में प्रदर्शित छोटी संगीत पेटियां स्विट्ज़रलैंड में बनी हैं। स्विट्ज़रलैंड संगीत पेटियों के लिए प्रसिद्ध है। कुछ संगीत पेटियों में छोटी-छोटी पुतलियां भी होती हैं जो ताल पर नाचती हैं।

कई संगीत पेटियों में धातु का एक छोटा बेलन होता है। उसमें बहुत-सी शलाकाएं लगी रहती हैं। एक स्प्रिंग के द्वारा बेलन गोल घूमता है। इसके घूमने से उसकी शलाकाएं धातु की बनी एक 'कंघी' के दांतों से टकराती हैं। दांतों पर चोट पड़ने से वे बज उठते हैं। बेलनवाली संगीत पेटियों की धुनें बनी-बनाई होती हैं।
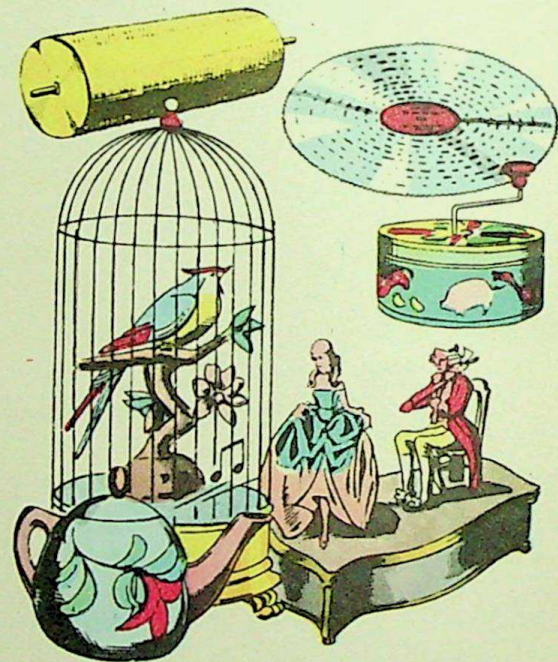
बेलन और चकतियों वाली संगीत पेटियां

कई संगीत पेटियों में बेलन की जगह धातु की डिस्क होती है। जब डिस्क घूमती है तो उसमें से नीचे की ओर निकले हुए छोटे-छोटे टैब निचली 'कंघी' से टकराते हैं। ग्रामोफोन के आविष्कार से पूर्व संगीत पेटियां ऐसी डिस्कों से बनाई जाती थीं जो ग्रामोफोन के रिकार्डों की तरह बदली जा सकती थीं।

सन (FLAX) : लिनन सन के धागे से तैयार किया जाता है। सन से मोटे और बारीक—सभी तरह के धागे बनाए जा सकते हैं।

सन के बीज भी उपयोगी हैं। उनका तेल निकाला जाता है। यह तेल रोगन, ऑयल क्लाथ और लिनोलियम बनाने में काम आता है। इसकी खली पशुओं को खिलाई जाती है।

सन कई तरह का होता है। कई प्रकार का सन केवल बीजों के लिए उगाया जाता है, जबकि दूसरी किस्मों का सन धागे बनाने के लिए बोया जाता है। बीजों के लिए बोया जानेवाला सन प्रायः 15 से 20 इंच तक ऊंचा होता है। धागे के लिए बोया जानेवाला सन 30 से 48 इंच तक ऊंचा होता है।

सन की खेती अनेक देशों में होती है। अर्जेंटाइना, कनाडा, भारत और अमरीका में सन मुख्य रूप से बीज के लिए बोया जाता है। यूरोप में सन की खेती मुख्य रूप से धागा बनाने के लिए की जाती है। सोवियत संघ में दोनों उद्देश्यों से सन की खेती की जाती है।

संभवतः सन के बीजों का उपयोग पहले हुआ होगा, धागे का बाद में। शायद हमारे प्राचीनतम पूर्वज खाने के लिए जंगली सन के बीज इकट्ठे करते रहे होंगे। लेकिन लगभग 3000 वर्ष ई० पू० मिस्र तथा मेसोपोटामिया में बीज और धागे—दोनों के लिए सन की खेती शुरू हो चुकी थी। (देखें : लिनन)

अलास्का की समूर सील काफी बड़ी—कभी-कभी 600 पौंड तक की होती है। हर साल पतझड़ में ये प्रिबिलोफ द्वीप-समूह के अपने घरों से दक्षिण की ओर प्रशांत महासागर में चली जाती हैं। वहां से फिर ये वसंत में लौटती हैं।

समूर (FURS) : बहुत प्राचीन काल में ठंडे देशों के लोगों ने सर्दी से बचने के लिए समूर या पोस्तीन (फर) पहनना शुरू किया था। कालांतर में उन देशों के राजाओं और रानियों ने अपने को शासक-वर्ग का सिद्ध करने के लिए समूर पहनना प्रारंभ कर दिया। लेकिन आजकल वहां समूर बड़ी आम चीज़ हो गया है। लोग अपने शरीर को सर्दी से बचाने के लिए और सुंदर लगने के लिए समूर पहनते हैं।

एरमाइन

सैबिल का समूर सबसे अमीराना समझा जाता है। इसमें भी सबसे उम्दा किस्म का समूर साइबेरिया से आता है। कुछ जानवर मौसम के साथ अपना रंग बदल लेते हैं। एरमाइन नामक जानवर का रंग गर्मियों में भूरा रहता है और सर्दियों में सफेद हो जाता है। एरमाइन का सफेद समूर बहुत दिनों तक राजा-रानियों का प्रिय रहा है। चिनचिला समूर दुर्लभ और कोमलतम है। यह दक्षिणी अमरीका के चिनचिला नामक जानवर से प्राप्त होता है। समूरवाले अन्य जानवरों में बीवर, मिंक, मस्क रैट, लोमड़ी और सील प्रमुख हैं। खरगोश का समूर दूसरे जानवरों के समूर के मुकाबले कम टिकाऊ होता है, लेकिन उसका प्रयोग बहुत किया जाता है।

समूरवाले जानवरों को पकड़ने और उसके व्यापार के सिलसिले में अनेक नये देशों का पता लगाया गया है। उत्तरी अमरीका के अधिकांश भागों का पता समूर के व्यापारियों ने ही लगाया है। आज के कई बड़े अमरीकी शहर एक ज़माने में समूर के प्रमुख व्यापारिक केंद्र थे, जैसे न्यूयॉर्क, सेंट लुई और क्यूबेक।

साबुन (SOAP) : साबुन का प्राचीनतम उल्लेख ईसा की पहली शताब्दी में हुए प्लिनी नामक रोमन लेखक ने किया है। उसके अनुसार, साबुन का आविष्कार गॉल लोगों ने किया। गॉल लोग उस देश के निवासी थे जिसे आज फ्रांस कहा जाता है। प्लिनी का कहना है कि ये लोग

साबुन का इस्तेमाल अपने केशों को चमकीला करने के लिए करते थे

रोमन लोगों को जैसे ही साबुन के बारे में ज्ञात हुआ, उन्होंने भी साबुन बनाना शुरू कर दिया। रोमन युग का शहर पोम्पेई 79 ईस्वी में ज्वालामुखी के फटने से ध्वस्त हो गया था। लगभग सत्रह शताब्दी बाद जब वहां खुदाई हुई तो उसमें साबुन का एक कारखाना भी निकला।

रोमनों ने देह और कपड़े की सफाई में साबुन की उपयोगिता पहचानी। वे बकरी की चर्बी और करंज की लकड़ी की राख से साबुन बनाते थे। लकड़ी की राख में क्षार नामक रासायनिक पदार्थ होते हैं। साबुन प्रायः चिकनाई या चर्बी और पोटाश, या पोटाश तथा सोडा साथ-साथ मिलाकर बनाया जाता है।

मध्ययुग में साबुन का इस्तेमाल केवल धनी व्यक्ति ही कर पाते थे। यह गरीब लोगों की पहुंच के बाहर था।

भारत में साबुन का प्रचलन यूरोपीय लोगों के आगमन के साथ शुरू हुआ। पहले लोग अपने-अपने काम-भर को साबुन स्वयं अपने घर में बनाते थे। धीरे-धीरे साबुन बनाने के कारखाने खुलते गए। आजकल साबुन-निर्माण एक बहुत बड़ा उद्योग हो गया है। भारत में सहस्रों मज़दूर साबुन बनाने के कारखानों में काम करते हैं। इन कारखानों में तरह-तरह के साबुन बनते हैं। कुछ साबुन सुगंधित होते हैं, कुछ औषधियुक्त होते हैं। कपड़ा धोने के साबुनों की अपेक्षा नहाने के साबुनों में ज़्यादा अच्छी कोटि की चिकनाई इस्तेमाल की जाती है। बहुत अच्छी चिकनाइयों में एक है जैतून का तेल। हमारे देश में आम तौर से नारियल के तेल से साबुन बनता है।

कपड़े साफ करने के लिए अब वसारहित चूर्ण भी प्रयोग में आते हैं। इन्हें कभी-कभी 'साबुन-रहित साबुन' या 'डेटरजेण्ट' कहते हैं।

सिंचाई (IRRIGATION) : हमारे कुछ खेत और बगीचे ऐसी जगहों पर हैं जहां पहले मरुस्थल थे। उन सूखे क्षेत्रों में इतनी कम वर्षा होती है कि वह वहां बोई गई फसलों के लिए पर्याप्त नहीं होती। लोगों ने ऐसे क्षेत्रों में पानी पहुंचाकर इन्हें हरे-भरे खेतों और बगीचों में बदल दिया है। अधिकतर सूखे क्षेत्र ऐसे हैं कि यदि उनमें किसी नदी या जलाशय से पानी पहुंचाया जा सके तो वहां अच्छी खासी फसल उपजाई जा सकती है।

बहुत पहले मिस्र के निवासी अपने खेतों की सिंचाई कुओं या नदियों से पानी निकालकर करते थे। कभी-कभी वे सिंचाई के लिए रहट का प्रयोग करते थे। रहट में पानी भरने के लिए बाल्टियां या चमड़े की मशकें लगी रहती थीं। इन्हें खींचने के लिए वे बैलों और ऊंटों से काम लेते थे।

आजकल अनेक स्थानों पर सिंचाई की बड़ी-बड़ी योजनाएं हैं। नदियों पर बांध बांधकर सिंचाई के लिए जलाशय बनाए गए हैं। इन जलाशयों से पानी खेतों और बागों में पहुंचाया जाता है। पानी ले जाने के लिए नहरें अथवा ज़मीन के नीचे नालियां बनी होती हैं। कभी-कभी पानी बड़े-बड़े नलों के द्वारा भी सिंचाई के लिए ले जाया जाता है।

आधुनिक युग की सिंचाई योजनाओं में सबसे प्रसिद्ध स्नोई माउंटेन्स प्रोजेक्ट है। यह दक्षिण-पूर्वी आस्ट्रेलिया में है। दूसरी प्रसिद्ध सिंचाई योजनाएं भारत में पंजाब की नदियों की और पूर्वी चीन में ह्वांग हो नदी की हैं। भारत में भाखड़ा-नांगल, गण्डक दामोदर घाटी, हीराकुड, चम्बल, मयूराक्षी, कोसी, रिहन्द बांध आदि अनेक योजनाएं इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

सिंचाई के लिए एकत्र पानी दूसरे रूपों में भी सहायक होता है। जब यह बांध के जलाशय से बहता है तो बड़े-बड़े पहियों को घुमाता है, जो बिजली के जनित्रों को चलाते हैं। लगभग हर बड़े बांध के साथ बिजलीघर भी बनाए जाते हैं।

सिलाई (SEWING) : कोई नहीं जानता कि सिलाई का काम कब शुरू हुआ और सिलाई का आविष्कार किसने किया। सबसे पहले शायद लोगों ने जानवरों की खाल को सीना सीखा।

पहले सुइयां पतली हड्डियों से बनाई जाती थीं। लोग पहले छेद करते और फिर चमड़े या डोरे-जैसी किसी चीज़ से सीते जाते थे। लोगों ने धातु की सुई बनाना सीखा। इसमें वे आंख (छेद) भी बनाने लगे। इस तरह सुई में धागा पिरोकर सीने का क्रम शुरू हुआ। आजकल हर आकार-प्रकार की लोहे की सुइयां बनती हैं। इसके बाद सिलाई और कसीदाकारी बहुत बढ़ गई। स्त्रियां इन दोनों कामों को बहुत अच्छी तरह करने लगीं।

आजकल सिलाई का अधिकांश काम मशीनों से होता है। कुछ सिलाई मशीनें बिजली से भी चलती हैं। ये मशीनें बटन के काज भी बनाती चलती हैं। कसीदे भी मशीनों द्वारा काढ़े जा सकते हैं।

जब पहले हाथ से सिलाई होती थी तो ये सारे काम घरों पर या फिर दर्ज़ी की दूकान पर होते थे। आजकल सिलाई के कारखाने भी खुल गए हैं।

सेब (APPLES) : यह उन फलों में से है जिनका उपयोग मनुष्य बहुत पुराने ज़माने से करता आया है। सदियों से मनुष्य सेब अपने इस्तेमाल के लिए उगाता रहा है। पाषाण युग के मनुष्यों को भी इस फल की जानकारी थी, तथापि उस ज़माने के सेब आज-जैसे बड़े न होते थे। यह कहना गलत न होगा कि सेब के बारे में दुनिया में जितनी जानकारी है, उतनी और किसी भी फल के बारे

में नहीं है, क्योंकि यह कितने ही देशों में होता है।

सेब एक बड़ा ही स्वादिष्ट, पुष्टिकारक ग्रौर सुन्दर फल है। फल के ग्रलावा, सब्ज़ी, मुरब्बे, रस, सुरा तथा सिरके ग्रादि के रूप में भी इसका इस्तेमाल लगभग सब कहीं होता है।

सेब की कितनी ही किस्में ग्रौर जातियां हैं, ग्रौर कलम लगाकर कितनी ही नई किस्में पैदा की जा रही हैं। भारत में कश्मीर, कुल्लू, कुमाऊं, ग्रसम तथा दक्षिण भारत में सेबों के बड़े-बड़े बाग हैं, जहां भांति-भांति के सेब उगाए जाते हैं। मनुष्य के लिए सेब की उपयोगिता का ग्रनुमान इंग्लैंड में प्रचलित इस कहावत से लगाया जा सकता है: "एक सेब रोज़ खाइए ग्रौर डाक्टर के पंजे से बचे रहिए"।

स्याही (INK) : ग्राज से 4,000 साल पहले मिस्री लोग स्याही से पैपाइरस या एक प्रकार के भोजपत्र पर लिखने का काम करते थे। स्याही कागज़ से प्राचीन है। मिस्रियों की स्याही लकड़ी के कोयले को कूटकर ग्रौर उसमें किसी तरह का सरेस मिलाकर बनाई जाती थी। यह स्पंज द्वारा मिटाई जा सकती थी। कभी-कभी ग्रगर किसी मिस्री लेखक द्वारा कोई भूल हो जाती थी तो वह जीभ से स्याही को चाटकर मिटा देता था। बाद में रोम में भी इसी स्याही का प्रयोग होता था। एक प्राचीन कथा के ग्रनुसार एक रोमन राजा को ग्रगर कोई कविता पसन्द नहीं ग्राती थी तो वह कवि को उसे चाटकर साफ करने पर विवश करता था।

रोम के लोग एक ग्रन्य प्रकार की स्याही का प्रयोग भी करते थे। इसे वे स्क्विड नाम के एक समुद्री जीव से प्राप्त करते थे। ग्रगर स्क्विड को तंग किया जाए तो यह एक गहरे भूरे रंग का तरल पदार्थ छोड़ता है जो उसके चारों ग्रोर एक तरह का धुंमेला ग्रावरण तैयार कर देता है। रोमवालों को लगा कि वे इस भूरे द्रव से लिख सकते हैं।

लगभग 1,000 साल पहले एक नई तरह की स्याही का ग्राविष्कार हुग्रा। यह बलूत के माजू से तैयार होती थी। बलूत का माजू एक तरह का लकड़ीदार पिण्ड होता है जो उस जगह के चारों ग्रोर उभर ग्राता है जहां माजू के कीड़े ग्रपना ग्रण्डा देते हैं। इस माजू में एक सुरमई चीज़ होती है जिसमें कुछ रसायनों के मिला देने पर बेजोड़ स्याही तैयार होती है। मध्यकाल में हर लेखक का स्याही बनाने का ग्रपना नुस्खा होता था। उस ज़माने की लिखी चीज़ों में कुछ ग्राज भी इतनी स्पष्ट हैं कि लगता है ग्रभी-ग्रभी लिखी गई हैं।

ग्राज कई तरह की स्याहियां प्रचलित हैं। हर रंग की स्याही हमें उपलब्ध है। कुछ किस्मों की स्याही विशेष करके फाउण्टेनपेन के लिए तैयार की जाती है। कुछ को

स्याही की कहानी

बलूत का माजू

साधु माजू से स्याही बना रहा है

मिस्री लेखक स्याही को चाट कर मिटा रहा है

स्याही के लिए रंगों की पिसाई

स्क्विड से प्राप्त रोमन स्याही

कोयले से नील बनाया जा रहा है

रोमन लेखन

चित्रकार की स्याही

फाउण्टेन पेन की स्याही

अदृश्य स्याही

बॉल-प्वाइंट कलम के लिए बनाया जाता है। कुछ का प्रयोग केवल छपाई के लिए होता है। चित्र बनाने के लिए अलग किस्म की स्याहियां होती हैं। अलग-अलग किस्म की स्याहियों में अलग-अलग सामग्रियों का प्रयोग होता है।

कई तरह की अदृश्य स्याहियां भी होती हैं। इनके द्वारा लिखी हुई लिखावट तब तक दिखाई नहीं पड़ेगी जब तक कि उसे किसी विशेष ढंग से न बरतें।

हाउस बोट (HOUSEBOATS): कश्मीर की सैर के लिए जानेवाले लोगों में से बहुत-से वहां कुछ दिन हाउस बोट में भी रहते हैं। श्रीनगर की डल झील में बड़े-बड़े सुन्दर हाउस बोट खड़े रहते हैं। 'हाउस बोट', जैसाकि इसके नाम से ही ज़ाहिर है, नाव पर बना एक घर होता है। जब लोग ज़मीन की बजाय पानी पर रहना चाहते हैं तो हाउस बोट में रहते हैं।

लोग हाउस बोट में कभी-कभी मनोरंजन के लिए रहते हैं। जल के बीच जहां इच्छा हुई हाउस बोट ले गए। अब बरामदे में बैठकर मछली का शिकार कीजिए, या जब तक जी चाहे जल-विहार करिए। पर बहुत-से लोग हाउस बोट में मजबूरी से भी रहते हैं। चीन में अनेक परिवार नदियों पर इसलिए रहते हैं कि उनका ज़मीन पर कोई घर नहीं होता। वहां शहरों और कस्बों के नज़दीक नदियों के किनारे हाउस बोटों की कतारें लगी होती हैं। इसी तरह दक्षिणी अमरीका के उष्ण प्रदेशों में भी हाउस बोट ग्राम देखे जाते हैं। वहां मकान बनाने के लिए जंगल को साफ करना एक टेढ़ी खीर है।

हाउस बोट इस तरह के बने होते हैं कि वे अपने आप पानी पर नहीं बहते। उन्हें खींचकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है। हाउस बोट के साथ एक-दो छोटी नावें भी रहती हैं। खाने-पीने का सामान लाने के लिए जब किनारे पर जाना होता है तो उन्हींमें बैठकर जाते हैं।

अमरीका में फ्लोरिडा में बहुत हाउस बोट हैं। शिकागो शहर में शिकागो नदी पर भी कुछ हाउस बोट हैं। दक्षिणी अमरीका की कुछ नदियों पर तो इतने अधिक हाउस बोट हैं कि वे एक-दूसरे से बिलकुल सटे रहते हैं। वैसे सबसे अधिक हाउस बोट चीन में मिलते हैं।

हाउस बोट में कुछ दिन रहना ही अच्छा लगता है। यदि उसमें ज़्यादा दिन रहना पड़े तो आदमी तंग हो जाता है, क्योंकि उसमें कितनी ही दिक्कतें हैं। हाउस बोट के कमरे छोटे-छोटे होते हैं, क्योंकि यदि वे बड़े बनाए जाएं तो हाउस बोट बहुत भारी हो जाता है। फिर, पानी में रहते हुए भी पीने-लायक स्वच्छ पानी प्राप्त करना एक समस्या होती है। एक दिक्कत यह पेश आती है कि कूड़ा-करकट कहां फेंका जाए। वहां कोई भंगी या जमादार तो होता नहीं है जो रोज़ घर का कूड़ा उठाकर ले जाए। इसके अलावा, सीलन से भी बड़ी परेशानी होती है।

नाव पर घर

चीनी जंक
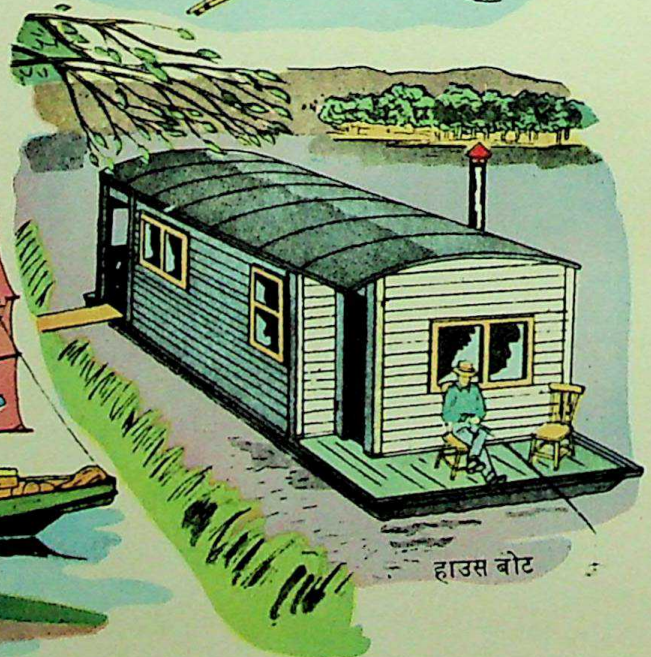
हाउस बोट

अनुक्रमणिका
पारिभाषिक शब्द

अंगूर (Grapes) 5
अंबर (Amber) 5
अग्निसह भवन (Fire-Resistant Houses) 6
अनईकट्टू (एनीकट) (Anicut) 6
अनन्नास (Pineapple) 6
अनाज (Cereals) 7
अनार (Pomegranate) 8
अफीम (Opium) 8
अभिरंजित शीशा (Stained Glass) 8
अरारूट (Arraroot) 9
आकाश-लेख (Skywriting) 9
आज़ादी का घंटा (Liberty Bell) 10
आतिशबाज़ी (Fireworks) 10
आभूषण (Jewellery) 10
आम (Mango) 11
आर्बर डे (Arbor Day) 12
आलू (Potato) 12
इकेबाना (Ikebana) 12
इत्र-फुलेल (Perfumes) 13
इनैमल (Enamel) 13
इमारती सामान (Building Materials) 13
ईंट (Brick) 14
ईंट, अग्निसह (Fire Brick) 14
उद्योग (Industries) 15
ऊन (Wool) 15
ऐंद्रजालिक वाणी (Ventriloquism) 16
ऐंबरग्रीस (Ambergris) 17
ऐपलसीड, जॉनी (Johnny Appleseed) 17
औज़ार (Tools) 18
औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) 19
कंक्रीट (Concrete) 20
कठपुतली (Puppets) 21
कताई और बुनाई (Spinning and Weaving) 21
कपड़ा (Textiles) 22
कपास (Cotton) 23
कलम लगाना (Grafting) 24
कसीदा और लैस (Embroidery and Lace) 24
कारखाने (Factories) 25
कालीन और दरी (Carpets and Rugs) 26
कीलें (Nails) 27
कुआं (Well) 28
केसर (Saffron) 28
कैलिको (Calico) 28
क्रय-विक्रय (Marketing) 28
क्रेन (Crane) 29
खाद और उर्वरक (Manures and Fertilizers) 30
खादी (Khadi) 30
खान और खान खोदना (Mines and Mining) 30
खिलौने (Toys) 32
खेती की मशीनें (Farm Machinery) 32
खेती-बारी (Farming) 33
गांठ (Knots) 35
गिनतारा (Abacus) 36
गुड़िया (Dolls) 36
गेहूं (Wheat) 36
घंटे और घंटियां (Bells) 36
घर (Homes) 37
चमड़ा (Leather) 39
चारा (Forage Crops) 39
चावल (Rice) 40
चिड़ियाघर (Zoos) 41
चीनी के और मिट्टी के बर्तन (China and Pottery) 42
छाल (Bark) 44

जंगल (Jungles) 44
जंगली फूल (Wild Flowers) 45
जवाहरात की नक्काशी (Cameo) 46
जूते (Shoes) 47
झलाई (Soldering) 47
टकसाल (Mint) 48
टैपेस्ट्री (Tapestry) 48
टोकरी (Baskets) 49
टोपी (Caps) 50
डिपार्टमेंट स्टोर (Department Stores) 50
डेरी का काम (Dairying) 51
तंबाकू (Tobacco) 52
तराजू और तौल (Scales and Weighing) 53
तारपीन (Turpentine) 53
तिल (Sesame) 54
तिलहन (Oilseeds) 54
तूसो, मादाम मेरी (Madame Marie Tussaud) 54
नमदा (Felt) 55
नीबू प्रजाति के फल (Citrus Fruits) 55
पत्थर की खान (Quarry) 56
पनचक्की (Water Wheels) 56
पवन-चक्की (Windmill) 57
पालतू जानवर, कामकाज के
(Domesticated Animals) 57
पालतू जानवर, शौक के (Pets) 58
पेंसिल (Lead Pencils) 60
पौधशाला (Greenhouse) 61
पौधों की नस्ल सुधारना (Plant Breeding) 61
फर्नीचर (Furniture) 62
फल (Fruits) 63
फसलों का हेरफेर (Crop Rotation) 65
बटन (Buttons) 65
बहुरूपदर्शी (Kaleidoscope) 66
बाट और पैमाने (Weights and Measures) 66
बीज (Seeds) 67
बुनाई (Knitting) 69
बैंक (Banks) 70
बैलगाड़ी (Bullock Carts) 71
भूमि-संरक्षण (Conservation of Land) 72
मक्का (Corn) 73
मछली पकड़ना (Fishing) 73
मदारी (Juggler) 75
मिश्रधातु (Alloys) 75
मुद्रा (Money) 76
मेज़ोटिण्ट (Mezzotint) 78
मेला (Fairs) 78
मोम (Wax) 79
मोमबत्ती (Candles) 79
रंग (Dyes) 80
रंगीन छपाई (Colour Printing) 81
रबर (Rubber) 82
रस्सी (Rope) 83
'राई' (Rye) 83
रेशम (Silk) 83
रेशे (Fibres) 84
रैंच (Ranches) 84
रोगन (Paint) 85
लकड़ी की कटाई (Lumbering) 86
लकड़ी की नक्काशी (Wood Carving) 88
लिनन (Linen) 88
लिनोलियम और ऑयल क्लाथ
(Linoleum and Oilcloth) 88
लेंस (Lenses) 89
वन और वनोद्योग (Forests and Forestry) 89
वस्तु-विनिमय (Barter) 91
वस्त्र (Clothing) 92
विज्ञापन (Advertising) 93
वृक्ष-शल्यकर्म (Tree Surgery) 94
व्यापार (Trade) 94
शीशा (Glass) 95
संकर पशु और पौधें (Hybrids) 96
संगीत पेटियां (Music Boxes) 96
सन (Flax) 97
समूर (Furs) 97
साबुन (Soap) 97
सिचाई (Irrigation) 98
सिलाई (Sewing) 98
सेव (Apples) 98
स्याही (Ink) 99
हाउस बोट (Houseboats) 100

△ △ △

सचित्र विश्वकोश

5 कृषि * उद्योग * व्यापार